श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ८
अंक : ७
विनाशाय च दुष्कृताम्
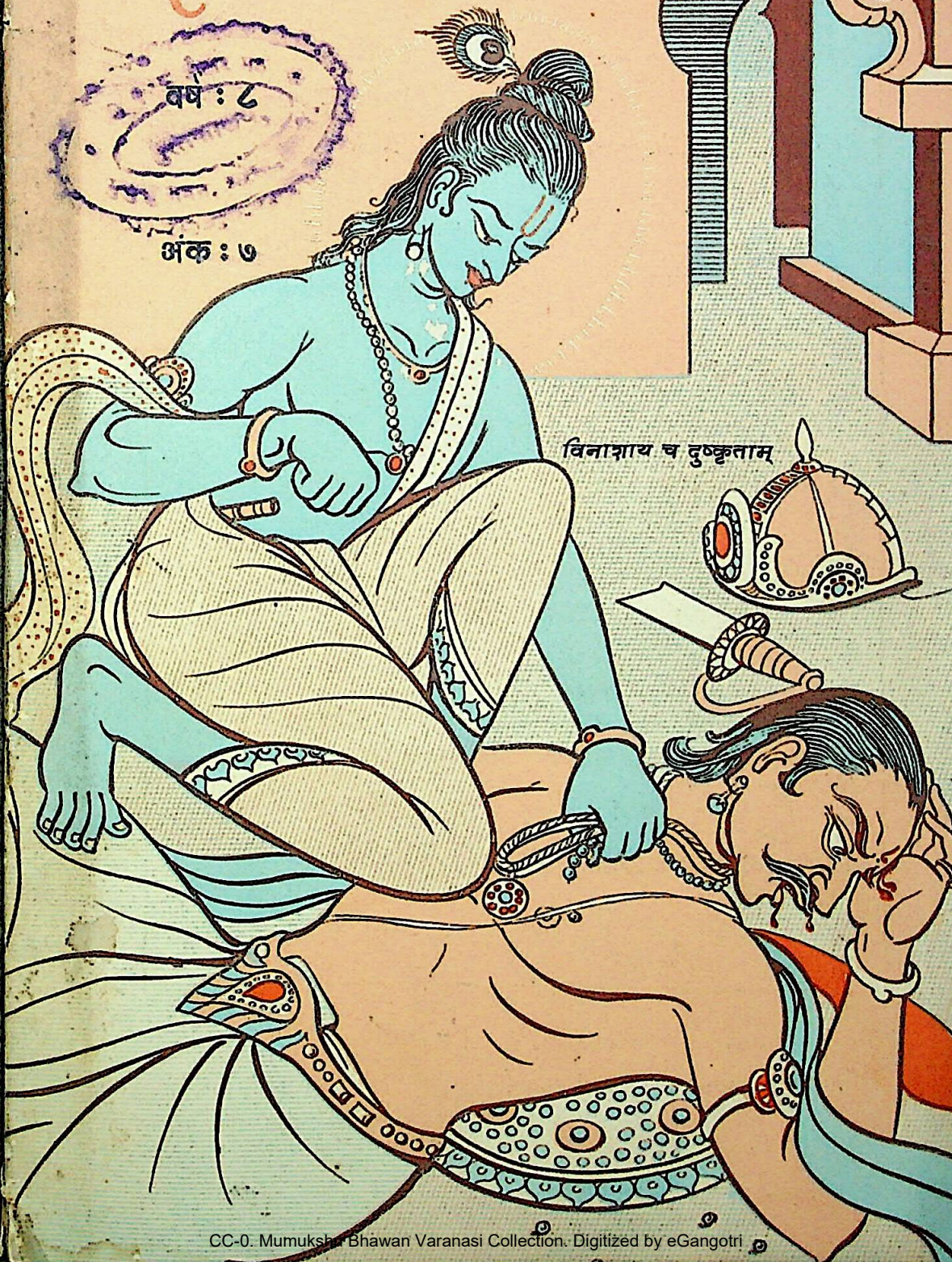
नीतिवचनामृत

(१)

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥

तृन धरनो सीतल सलिल मधुर वचन सतभाव ।
होत न सन्तनके सदन इनको कबहुँ अभाव ॥

(२)

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ॥

अगुनहु जीवन पै दया करत सुजन सानन्द ।
नहीं समेटत चाँदनो स्वपच - गेह ते चन्द ॥

(३)

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ॥

नहिं दुर्जन-सों जोरिये मैत्री प्रीति - समेत ।
जरत अनल जारत बुझ्यो कर कारो करि देत ॥

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

सम्मानित

● सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

डॉ० भगवान् सहाय पचौरी

● सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

संख्या ●

वर्ष : ८, अङ्क : ७

फरवरी, १९७३

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९८

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

: प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

'श्रीकृष्ण-सन्देश' के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक्य, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोध जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

● नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख 'सम्पादक' 'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, कैलगढ़ कालोनी, जगतगंज, वाराणसीके पतेपर भेजें।

● 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चन्देमें उनके जीवनभर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनि-आर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

● विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :
व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा
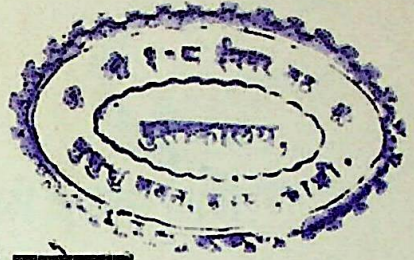
मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२९ माघ शुक्ल द्वादशी बुधवार १४-२-'७३ से चैत्रकृष्ण प्रतिपद् सोमवार १९-३-'७३ तक]

फरवरी : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
१४	बुधवार	भीष्मद्वादशी, तिलद्वादशी ।
१५	गुरुवार	प्रदोष-व्रत ।
१६	शुक्रवार	व्रतकी पूर्णिमा ।
१७	शनिवार	माघी-पूर्णिमा (स्नान-दानके लिए) । (माघस्नान-नियम-समाप्ति) ।
२०	मंगलवार	संकष्टी गणेश चतुर्थी व्रत ।
२५	रविवार	जानकी-जयन्ती ।
२८	बुधवार	विजया एकादशी व्रत (सबके लिए) ।

मार्च : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
२	शुक्रवार	प्रदोष-व्रत ।
३	शनिवार	महाशिवरात्रि-व्रत ।
८	गुरुवार	वैनायकी गणेश चतुर्थी-व्रत ।
११	रविवार	होलाष्टकारम्भ ।
१५	गुरुवार	आमलकी ११ व्रत (सबके लिए) ।
१६	शुक्रवार	प्रदोष-व्रत ।
१८	रविवार	होलिकादाह, पूर्णिमा-व्रत ।
१९	सोमवार	होली, वसन्तोत्सव ।

अनुक्रम

श्रीकृष्ण जन्म-स्थान :

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्दसुमन

आज हम लोग यहाँ श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानपर आये। दर्शन करनेपर बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ। इस पुण्य-स्थलको भव्य बनानेमें संलग्न आप सबको धन्यवाद !

जगद्गुरु श्री सीतारामाचार्यजी, वृन्दावन
श्री स्वामी भागवताचार्यजी,
रामानुजकोट, (उज्जैन)
श्री स्वामी विष्वक्सेनाचार्यजी महाराज,
पुष्कर मध्यप्रदेश (राजस्थान)

आज भगवान् श्री जानकीरमणजीकी कृपासे वृन्दावनविहारी सर्वेश्वर प्रभु श्रीकृष्णकी प्राकटच-स्थलीके दर्शनका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस सर्वोच्च पावन स्थानके मनोरम दृश्य हृदयहारी हैं। समस्त हिन्दू-जातिके लिए यह दिव्य क्षेत्र सर्वदा पूज्य एवं चिरस्मरणीय है। हम सर्वतोभावेन इसकी श्री एवं समृद्धिकी अभिलाषा रखते हैं। सभी सनातन-धर्मावलम्बियोंका आवश्यक कर्तव्य है इसकी तन, मन, धनसे सेवा करना। यह जीवनकी सफलताका प्रतीक होगा।

नृत्यगोपालदास
श्री मणिदासजीकी छावनी, अयोध्या

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानकी परिक्रमा करनेका शुभ अवसर मिलना सौभाग्यकी बात है। इस मन्दिरके व्यवस्थापक आदिके व्यवहारसे हमें प्रसन्नता हुई।

गौरीशंकरदास
उपमहानिदेशक
स्वास्थ्य-विभाग, काठमाण्डू

चतुर्भुजप्रसाद सिंह
मन्त्री, नेपाल
श्रीमती प्रमिला सिंह

इस जन्म-स्थानमें प्रभुके श्रीचरणोंका दर्शनलाभ कर अपार आह्लाद हुआ।

महेशदत्त दीक्षित
डी० आई० जी, सी० आई० डी०, लखनऊ

इस पुनीत कार्यमें सहायक होना प्रत्येक भारतीय एवं विश्वके समस्त हिन्दू-धर्मावलम्बियोंके लिए अत्यन्त गौरवकी बात है।

गोवर्धनदास माथानी
25. B. st. Goln's Road, Marad Pally
Secunderabad (Andhra Pradesh)

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानको बड़े सुन्दर ढंगसे बनाया जा रहा है। मकान बड़े अच्छे और सुन्दर तरीकेसे बन रहे हैं। समय आनेपर यह बड़ा सुन्दर और भव्य स्थान हो जायगा।

महेन्द्र शर्मा
कार्यपालक इन्जीनियर
केन्द्रीय-निर्माण विभाग, नयी दिल्ली—४९

All people are most con cerned about peace for all countries so that we may all live to-gether as brother. This birth place to lord Krishna illustrates friendship and peace to all visitors. It is something to behold & respect. We appreciate the opportunity to view it with our friends in India.

K. W. Copp. family
Midland, Michigan U. S. A.

We were very pleased to visit this ancient birth place of lord Krishna. We pray and hope to receive the blessings of our lord. Long live Hindu Dharma. wishing every success for the new mandir building.

Indira Parthab Singh
Thirteentd Strcet
Beudni Transval
South Africa

I was grcatly impressed by the decent construction work that is going on in onder to rebuild & commemorate a great event in India's spiritual history. I hope millions in future will be able to see in it the lust that Hinduisine has offered to the entire world.

BEDABRATA BARYA
Dy. Minister, Govt. of India Delhi

After struggling through driving a very bad road, we reached the temple premises and we simply forgot all the trouble. My wife and I were very much impressed with the existing temple and the new construction going on. Good arrangements should be available for the tourests & devotees to come here and get blessed by his lord. We are indeed for tunate enough to have come here.

M. V. A. Setty
Retired chief Engeneer
Special officer M. S. E. B. 40, I Block
Jaya Nagar, Bangalorei

वर्ष : ८] मथुरा : फरवरी, १९७३ [अङ्क : ७

लोकसंग्रहार्थ, रागद्वेषरहित कर्म कर्तव्य

जो इन्द्रियाराम न होकर आत्माराम होता है—आत्मामें ही आनन्दकी अनुभूति करता है, आत्मामें ही तृप्त और सन्तुष्ट होता है; उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। उस महापुरुषका इस लोकमें कुछ करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं होता। समस्त प्राणियोंमें कहीं भी उसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रह जाता। इसलिए मानवो! तुम सदा अनासक्त रहकर कर्तव्य कर्मका भलीभाँति आचरण करते रहो; क्योंकि अनासक्त-भावसे कर्म करनेवाला मनुष्य ही मुझ परमात्माको प्राप्त होता है। पूर्वकालके राजर्षि जनक आदि ज्ञानीजन अनासक्त-भावसे कर्म करके ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। अतः सभी श्रेष्ठ पुरुषोंको कर्म करना चाहिए। लोगोंके सामने आदर्श उपस्थित करनेके लिए यहाँ कर्म करना आवश्यक है। श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी उसीका अनुकरण करते हैं। वह अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाणित कर देता है, साधारण जन-समुदाय उसीके अनुसार कार्य करने लग जाता है। यद्यपि मेरेलिए तीनो लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है, कुछ भी अप्राप्त नहीं है और किसी वस्तुको पानेकी आवश्यकता नहीं, तथापि मैं कर्ममें ही लगा रहता हूँ। यदि मैं आलस्य छोड़कर काममें न लगा रहूँ तो दूसरे लोग भी काम छोड़ देंगे; क्योंकि प्रायः सभी मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ, सब ओर कर्मसंकरता फैल जाय और मैं प्रजाके विनाशका कारण बन जाऊँ।

मूढ़ लोग शास्त्रविहित कर्म और उसके फलमें आसक्त होनेके कारण जैसे खूब मन लगाकर कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी मनोयोगके साथ भलीभांति शास्त्रोक्त कर्म करता रहे; अन्तर इतना ही रखे कि वह उन अज्ञानी मनुष्योंकी भांति कर्ममें आसक्त न हो। कोई यह न सोचे कि यदि कर्मका फल ही अपेक्षित नहीं तो कर्म किया ही क्यों जाय; क्योंकि लोकसंग्रह करनेकी इच्छा तो रखनी ही चाहीए। लोग शास्त्रोक्त कर्मोंमें लगे रहें, उनमें सत्-कर्म करनेकी प्रवृत्ति बनी रहे—यह दृष्टि लोकहितके लिए अत्यन्त आवश्यक है। विद्वान् पुरुष ऐसा कोई बर्ताव या व्यवहार न करे, जिससे कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिमें कोई भेद (अश्रद्धा या भ्रम) उत्पन्न हो। ज्ञानी पुरुष स्वयं भी तत्परतापूर्वक कर्म करे और दूसरोंको भी कर्मानुष्ठानमें लगाये रखे। आत्मा अकर्ता है, सारे कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा ही किये जाते हैं; तथापि जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूं। किन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुषकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। गुणविभाग और कर्मविभागके तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानयोगी यह समझकर कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, उनमें आसक्त नहीं होता। जो प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हैं, वे मनुष्य गुणों (विषयों) तथा कर्मोंमें आसक्त रहते हैं। उनकी ज्ञानशक्ति पूर्णतया विकसित नहीं होती। अतः वे मन्द-बुद्धि होते हैं। उन्हें पूर्ण बोधवान् ज्ञानी पुरुष विचलित न करे—उन्हें कर्मभ्रष्ट होनेसे बचाये। तुम अपने चित्तको मुझ परमात्मामें लगा दो और उस संलग्न चित्त द्वारा अपने सारे कर्म मुझे अर्पित कर दो। फिर आशा, ममता और कामनाके ज्वरसे रहित हो कर्तव्य कर्ममें लग जाओ। कर्मयोगके विषयमें यही मेरा मत है। जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित एवं श्रद्धालु होकर मेरे इस मतके अनुसार सदा चलते—सत्कर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। जो लोग इसमें दोष निकालते हैं और मेरे इस मतका पालन नहीं करते हैं, वे सम्पूर्ण ज्ञानसे वंचित मूढ़ हैं, अचेत हैं, उन्हें नष्ट हुआ ही समझो। ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है। समस्त प्राणी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं। इस विषयमें निग्रह (हठ-पूर्वक इन्द्रियोंका नियन्त्रण) क्या करेगा ? उससे कोई लाभ न होगा। प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग-द्वेष डेरा डाले बैठे हैं। मनुष्य उनके वशमें न हो; क्योंकि वे उसके लिए शत्रु हैं—उसकी कल्याणमयी सम्पत्तिपर डाका डालनेवाले लुटेरे हैं। पराये धर्मके अनुष्ठानमें सुविधा या सरलता हो, तो भी उससे अपना गुणरहित धर्म कहीं श्रेष्ठ है। अपने धर्मकी रक्षाके लिए मर-मिटनेमें ही कल्याण है; किन्तु परधर्म भयकारक है। (गीता। अ. ३)

—क्रमशः

वसन्त-पञ्चमीके अवसरपर

वीणापाणिको वन्दना

[संस्कृत]

वीणापाणिमीडे वीणावादनप्रवीणामह-
मधिजन - मानस - मनिश - मवगाहिनीम्,
मूकान् विदधानां वावदूकानविलम्बेनैव
विद्याभानुरश्मिभि - रविद्यातमोदाहिनीम् ।
काकानपि कुर्वतीं बलाकानिव भासा स्वया
दासानुग्रहेण लोकमन उत्सहिनीम्,
साहिनीमघानामलं ग्राहिणीं गुणानां गृणे
क्षेमदायिनीं सप्रेम हेमहंसवाहिनीम् ॥

[हिन्दी]

शशि ते अधिक मुखछविकै सरोवरमैं—
खेलत जुगल लोल - लोचन सुमीन लै,
सातो सुर धारन कै तारन विपञ्चिकाके
तारन - से हारनमें कुंदकी कलीन लै ।
हंसवाहिनी ह्वै काव्यरस - अवगाहिनी ह्वै
सारदा सयानी ! संग प्रतिभा नवीन लै
आओ विधि-लोक ते उतरि धरनी पै अम्ब !
कंठ कविजनके विराजिवेको बीन लै ॥

—श्री 'राम'

सरस्वती-पूजाका विधान

★

माघ मासके शुक्ल पक्षकी पञ्चमी तिथिको 'वसन्त-पञ्चमी' कहते हैं। यही विद्यारम्भकी मुख्य तिथि है। कोई-कोई इसे कामोत्सव-तिथि भी मानते हैं। वह तिथि प्राप्त होनेपर पूर्वाह्णमें ही सरस्वतीकी समाराधनाका संकल्प लें। फिर संयमशील एवं पवित्रभावसे रहकर स्नान और नित्यकर्म करनेके पश्चात् भक्ति-पूर्वक कलश-स्थापन करें। तदनन्तर पूजाके उपचार जुटाकर गणेश, सूर्य, अग्नि, विष्णु, शिव और पार्वतीका पूजन करे। इसके बाद इष्ट-देवता सरस्वतीकी पूजा आरम्भ करनी चाहिए।

ताजा मक्खन, दही, दूध, धानका लावा, तिलके लड्डू, सफेद गन्ना और उसका रस, उसे पकाकर बनाया हुआ, गुड, शक्कर या मिश्री, श्वेत धानका चावल, जो टूटा न हो, नये धानका चिउड़ा, सफेद लड्डू, घी और सेंधा नमक डालकर तैयार किये हुए व्यञ्जनके साथ शास्त्रोक्त हविष्यान्न, जौ अथवा गेहूँके आटेसे बने घृतमें तले हुए पदार्थ, पके हुए स्वच्छ केलेका पिष्टक, मधुर मिष्टान, नारियल, उसका पानी, कसेरू, मूली, अदरख, पका केला, बढ़िया बेल, बेरका फल, अन्यान्य ऋतुफल तथा और भी स्वच्छ वर्णके पवित्र फल—ये सब भगवती सरस्वतीके प्रिय नैवेद्य हैं।

सुगन्धित श्वेत पुष्प, सफेद स्वच्छ चन्दन; नवीन श्वेत वस्त्र और सुन्दर शङ्ख देवी सरस्वतीकी प्रसन्नताके लिए उन्हें अर्पित किये जाने चाहिए। श्वेत पुष्पोंकी माला और श्वेत भूषण भी भगवतीको चढ़ायें। उनका ध्यान इस प्रकार करें :

'देवी सरस्वतीका श्रीविग्रह शुक्लवर्ण है। वे परम सुन्दरी हैं और उनके मुखपर सदा प्रसन्नतासूचक मन्द मुसकानकी छटा छायी रहती है। उनके श्रीविग्रहके समक्ष कोटि-कोटि चन्द्रमाओंकी प्रभा फीकी पड़ जाती है। उनके श्रीअङ्गोंपर विशुद्ध चिन्मय वस्त्र शोभा दे रहा है। भगवती शारदाके एक हाथमें वीणा है और दूसरेमें पुस्तक। सर्वोत्तम रत्ननिर्मित आभूषण उन्हें सुशोभित करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव प्रभृति प्रधान देवता और देव-समुदाय इनकी पूजामें संलग्न हैं। श्रेष्ठ मुनि, मनु और मानव इनके चरणोंमें नतमस्तक हैं। ऐसी भगवती-सरस्वतीको मैं भक्तिभावसे प्रणाम करता हूं।'

इस प्रकार ध्यान करके पूजाके समस्त उपचार भगवतीको मूलमन्त्रसे विधिवत् समर्पित करें। 'श्रीं ह्रीं' सरस्वत्यै स्वाहा' यह वैदिक अष्टाक्षर मन्त्र ही भगवतीकी पूजाके लिए उपयुक्त मूलमन्त्र है। पूजनके पश्चात् देवीको साष्टाङ्ग प्रणाम करना चाहिए। जो लोग भगवती सरस्वतीको अपनी इष्टदेवी मानते हैं, उनके लिए यह नित्यकर्म है। बालकोंके विद्यारम्भके अवसरपर, वर्षके अन्तमें, माघ शुक्ला पञ्चमीके दिन सभीको भक्तिपूर्वक इन सरस्वती देवीकी पूजा करनी चाहिए।

●

श्री श्री माँ की वाणी

"हम लोग भगवत् - प्राप्तिके पथको कैसे ग्रहण करें ?" किसीके इस प्रश्नके उत्तरमें श्री श्री माता आनन्दमयीसे हम-लोगोंने सुना :

"यदि तुम लोगोंकी इच्छा हो तो इस तरह भी कर सकते हो। हर समय इन सबका होना प्रयोजन है। यदि समयका अभाव कहो, तब भी जहाँतक सम्भव करना ही, और अवसर-के समय या छुट्टीके दिनमें पूर्णांगीण चेष्टा :

एक	सत्क्रिया—सत्संग
दो	सत्यवचन कहना
तीन	तत्-ज्ञानमें सेवा—जन-जनार्दन
चार	सद्ग्रन्थ-पाठ
पाँच	कीर्तन
छः	क्रिया-योग
सात	पूजा
आठ	जप
नौ	भगवत्-कृपा-प्रार्थना
दस	स्मरण
ग्यारह	शरणागति
बारह	तत्-ध्यान

गीता-विहित ब्रह्मयज्ञ

श्री अरविंद

★

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माग्निमें ही अर्पित है, ब्रह्मकर्ममें समाधिके द्वारा ब्रह्म ही वह है जिसे पाना है। तो यह वही ज्ञान है जिससे युक्त होकर मुक्त पुरुषको यज्ञकर्म करना होता है। सोऽहं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्म एव पुरुषः— प्राचीन कालमें इन महान् वेदान्त-वाक्योंसे इसी ज्ञानकी घोषणा हुई थी। यह समग्र एकत्वका ज्ञान है। यह वह एक है जो कर्ता, कर्म और कर्मोद्देश्यके रूपसे तथा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके रूपसे प्रकट है। जिस विश्वशक्तिमें कर्मकी आहुति दी जाती है वह स्वयं भगवान् हैं; आहुतिकी उत्सर्ग की हुई शक्ति भगवान् है। जिस वस्तुकी आहुति दी जाती है वह भगवान्का ही कोई रूप हो तो भी मनुष्यके अन्दर स्वयं भगवान् ही हैं। क्रिया, कर्म, यज्ञ सब गतिशील कर्मशील भगवान् ही हैं। यज्ञ द्वारा गन्तव्य स्थान भी भगवान् ही हैं। जिस मनुष्यको यह ज्ञान है और जो इसी ज्ञानमें रहता और कर्म करता है, उसके लिए कोई कर्म बन्धन नहीं बन सकता। उसका कोई कर्म वैयक्तिक और अहंकारप्रयुक्त नहीं होता। दिव्य पुरुष ही अपनी दिव्य प्रकृति द्वारा अपनी सत्तामें कर्म करता है। वह अपनी आत्मचेतन विश्व-शक्तिकी अग्निमें प्रत्येक पदार्थकी आहुति देता है। इस भगवत्-परिचालित गति और कर्मका लक्ष्य है, जीवका भगवान्के साथ एक होकर भगवान्की स्थिति और चेतनाके ज्ञानको प्राप्त करना और उनपर स्वत्व रखना। इस तत्त्वको जानना, इसी एकत्व-साधक चेतनामें रहना और कर्म करना ही मुक्त होना है।

किन्तु सभी योगी इस ज्ञानतक नहीं पहुँचते। 'कुछ योगी दैव-यज्ञ (देवताओंके प्रीत्यर्थ किये जानेवाले यज्ञ) करते हैं, तो कुछ यज्ञको यज्ञ द्वारा ही ब्रह्माग्निमें हवन करते हैं।' दैव-यज्ञ करनेवाले भगवान्की कल्पना, उनके रूपों और शक्तियोंमें करते हैं और विविध साधनों या धर्मों द्वारा, अर्थात् कर्मसम्बन्धी सुनिश्चित विधि-विधान, आत्म-संयम और उत्सृष्ट कर्म द्वारा उन्हें ढूंढ़ते हैं। जो ब्रह्माग्निमें यज्ञ द्वारा यज्ञका हवन करनेवाले ज्ञानी हैं, उनके लिए यज्ञका भाव है कि जो कुछ कर्म करें, उसे सीधा भगवान्को अर्पण करना। अपनी सारी वृत्तियों और इन्द्रिय-व्यापारोंको एकीभूत भागवत-चैतन्य और शक्तिमें निक्षिप्त कर देना

ही एकमात्र साधन है, एकमात्र धर्म है। यज्ञके साधन विविध हैं, हव्य भी नानाविध हैं। एक आत्म-नियन्त्रण और आत्मसंयमरूप आन्तरिक यज्ञ है, जिससे उच्चतर आत्मवशित्व और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है।

'कुछ अपनी इन्द्रियोंको संयमाग्निमें हवन करते हैं, कुछ दूसरे इन्द्रियाग्निमें विषयोंका हवन करते हैं, कुछ समस्त इन्द्रिय-कर्मों और प्राण-कर्मोंका ज्ञानदीप्त आत्मसंयम-योगरूपी अग्निमें हवन करते हैं।' तात्पर्य, एक साधना यह है कि इन्द्रियोंके विषयोंका ग्रहण तो किया जाता है, पर उस इन्द्रिय-व्यापारसे मनको कोई क्षोभ नहीं होने दिया जाता। मनपर उसका कोई असर नहीं पड़ने दिया जाता। इन्द्रियाँ स्वयं ही विशुद्ध यज्ञाग्नि बन जाती हैं। फिर यह भी एक साधना है, जिसमें इन्द्रियोंको इतना स्तब्ध कर दिया जाता है कि अन्तरात्मा अपने स्थिर और शान्तरूपमें मनःक्रियाके परदेके भीतरसे निकलकर प्रकट हो जाता है। एक साधना यह है जिससे आत्मस्वरूपका बोध होनेपर, सब इन्द्रिय-कर्म और प्राण-कर्म उस एक स्थिर-प्रशान्त आत्मा ही ले लिये जाते हैं। सिद्धिका साधक योगी इस प्रकार जो यज्ञ करता है, उसमें दी जानेवाली आहुति द्रव्यमय हो सकती हैं। जैसे भक्त लोग अपने इष्टदेवको पूजा चढ़ाते हैं। अथवा यह यज्ञ तपोयज्ञ भी हो सकता है। अर्थात् आत्म-संयमका वह तप जो किसी महत्तर उद्देश्यकी सिद्धिके लिए किया जाय। अथवा राजयोगियों और हठयोगियोंके प्राणायाम जैसा कोई योग भी हो सकता है; अथवा अन्य किसी भी प्रकारका योग-यज्ञ हो सकता है। इन सबका फल साधकके आधारकी शुद्धि है; सब यज्ञ परमकी प्राप्तिके साधन हैं।

इन विविध साधनोंमें मुख्य बात, जिसके होनेसे ही ये सब साधन बनते हैं, यह है कि निम्नप्रकृतिकी क्रियाओंको अपने अधीन कर, कामनाके प्रभुत्वको घटाकर उसके स्थानपर किसी महती शक्तिको प्रतिष्ठित करके अहमात्मक भोगको त्यागकर उस दिव्य आनन्दका आस्वादन किया जाय जो यज्ञसे, आत्मोत्सर्गसे, आत्म-प्रभुत्वसे, अपने निम्न आवेगोंको किसी महत्तर ध्येयपर न्यौछावर करनेसे प्राप्त होता है। 'जो यज्ञावशिष्ट अमृत भोग करते हैं, वे ही सनातन ब्रह्मका लाभ करते हैं: **यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।** यज्ञ ही विश्वका विधान है। यज्ञके बिना कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता, न इस लोकमें प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है, न परलोकमें स्वर्गकी ही प्राप्ति हो सकती है। जो यज्ञ नहीं करता, उसके लिए यह लोक भी नहीं है, परलोककी तो बात ही क्या? : **नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।** इसलिए ये सब यज्ञ और अन्य अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हुए हैं— उस अग्निके मुखमें, जो सब हव्योंको ग्रहण करता है। ये सब कर्ममें प्रतिष्ठित उसी एक महान् सत्के साधन और रूप हैं, जिन साधनोंके द्वारा मानव-जीवका कर्म उसी तत्को समर्पित होता है। मानव जीवका बाह्य जीवन भी उसी तत्का एक अंश है और उसकी अन्तरतम सत्ता उसके साथ एक है। ये सब साधन या यज्ञ 'कर्मज' हैं। सब भगवान्की उसी एक विशाल शक्तिसे निकले, उसी एक शक्ति द्वारा निर्दिष्ट हुए हैं, जो विश्वकर्ममें अपने-आपको अभिव्यक्त करती और इस विश्वके समस्त कर्मको उसी एक परमात्मा परमेश्वरका क्रमशः बढ़ता हुआ नैवेद्य बनाती

है जिसकी चरम अवस्था, मानव-प्राणीके लिए आत्म-ज्ञान या भागवत चेतनाकी ब्राह्मी चेतनाकी प्राप्ति है। 'ऐसा जानकर तू मुक्त होगा : **एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।**

किन्तु यज्ञके इन विभिन्न रूपोंमें उतरती-चढ़ती श्रेणियाँ हैं, जिनमें सबसे नीची श्रेणी है द्रव्यमय यज्ञ और सबसे ऊँची श्रेणी है, ज्ञानमय यज्ञ। ज्ञान वह चीज है जिसमें यह सारा कर्म परिसमाप्त होता है। ज्ञानसे यहाँ किसी निम्नकोटिका ज्ञान अभिप्रेत नहीं है। बल्कि यहाँ अभिप्रेत है परम ज्ञान, भगवत्-ज्ञान, वह ज्ञान जिसे हम उन्हीं लोगोंसे प्राप्त कर सकते हैं जो सृष्टिके मूल-तत्त्वको जानते हैं। यह वह ज्ञान है, जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य मनके अज्ञानमय मोह तथा केवल इन्द्रिय-ज्ञानकी और वासनाओं और तृष्णाओंकी निम्नतर क्रियाओंमें फिर नहीं फँसता। यह वह ज्ञान है, जिसमें सब कुछ परिसमाप्त होता है। उसके प्राप्त होनेपर तू सब भूतोंको अशेषतः आत्माके अन्दर और तब मेरे अन्दर देखेगा।' क्योंकि आत्मा वही एक, अक्षर सर्वगत, सर्वाधार, स्वतःसिद्ध सद्वस्तु या ब्रह्म है जो हमारे मनोमय पुरुषके पीछे छिपा हुआ है और जिसमें चेतना अहंभावसे मुक्त होनेपर विशालताको प्राप्त होती है और तब हम जीवोंको उसी एक सत्के अन्दर भूतरूपमें देख पाते हैं।

किन्तु यह आत्मतत्त्व या अक्षर ब्रह्म हमारी वास्तविक अन्तःचेतनाके सामने उन परम पुरुषके रूपमें भी प्रकट होता है, जो हमारी सत्ताके उद्गम-स्थान हैं और क्षर या अक्षर जिनका प्राकट्य है, वे ही हैं ईश्वर, भगवान्, पुरुषोत्तम। उन्हींको हम हर एक चीज यज्ञरूपसे समर्पित करते हैं। उन्हींके हाथोंमें हम अपने सब कर्म सौंप देते हैं। उन्हींकी सत्तामें हम जीते और चलते फिरते हैं। अपने स्वभावमें उनके साथ एक होकर और उनके अन्दर जो सृष्टि है उसके साथ एक होकर, हम उनके साथ और प्राणिमात्रके साथ एक जीव, सत्ताकी एक शक्ति हो जाते हैं। हम अपनी आत्म-सत्ताको उनकी परम सत्ताके साथ तद्रूप और एक कर लेते हैं। कामवर्जित यज्ञार्थ कर्मोंके करनेसे हमें ज्ञान होता है और आत्मा अपने-आपको पा लेती है। आत्मज्ञान और परमात्म-ज्ञानमें स्थित होकर कर्म करनेसे हम मुक्त हो जाते हैं और भागवत-सत्ताकी एकता, शान्ति एवम् आनन्दमें प्रवेश करते हैं। ('गीता-प्रबन्ध'से उद्धृत)

भक्तियोगसे लाभ

जो भक्तियोगके द्वारा निरन्तर भगवान्का भजन करता है, उसके हृदयमें भगवान् निरन्तर विराजमान होते हैं। इससे उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं। उसे सर्वात्मा भगवान्का साक्षात्कार हो जाता है। उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म-वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं।

—श्रीमद्भागवत

‘जिनकी रचनामें मिली, भाषा विविध प्रकार !’

गोस्वामीजीकी भाषा और रचना-पद्धति

श्री करुणापति त्रिपाठी

★

गोस्वामीजी जिस समय अवतरित हुए, उस समय आर्यावर्तमें व्रज और अवधी दो भाषाओंके माध्यमसे काव्य-रचना हो रही थी। व्रजभाषाके प्रारम्भिक ग्रन्थोंकी जानकारी तो हमें आज नहीं है, किन्तु ‘पृथ्वीराज-रासो’पर भी किसी-न-किसी रूपमें व्रजभाषाका प्रभाव पड़ा ही है। खुसरो और नामदेवकी कुछ रचनाएँ भी व्रजभाषामें पायी जाती हैं। तेरहवीं शताब्दीसे तो व्रजभाषाकी रचनाएँ इतनी पुष्ट और प्रौढ मिलती हैं कि प्रतीत होता है। सौ-दो-सौ वर्ष पूर्वसे उसमें साहित्य-रचना अवश्य होती चली आ रही होगी। बहुत सम्भव है, वह साहित्यिक भाषा लोक-भाषासे दूर भी पड़ती गयी हो। इसीलिए कविवर सूरदासजीको उसमें लोक-भाषाकी शक्ति डालकर उसे प्राणवान् बनानेका विचार करना पड़ा हो। व्रजभाषाका यह प्रचलित साहित्यिक रूप सूरदासजीका ही स्थिर किया हुआ है, भी जिसे आगेके सभी कवियोंने अपना लिया।

अवधीमें भी पन्द्रहवीं शताब्दीसे अत्यन्त पुष्ट रचनाएँ मिलने लगती हैं। सोलहवीं शताब्दीके मध्यसे तो यह परम्परा बराबर ही चलती चली आयी है। अतः गोस्वामीजीका काव्य-जीवन प्रारम्भ होनेके कम-से-कम पांच या साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्वसे व्रजभाषामें और प्रायः चार या साढ़े चार सौ वर्ष पूर्वसे अवधीमें साहित्य-रचनाका श्रीगणेश हो गया था। इस अवधिमें ये भाषाएँ पर्याप्त रूपसे परिपुष्ट होकर साहित्यिक व्यवहारमें आने लग गयी थीं। किन्तु व्रजभाषाको निखारा सूरदासजीने और अवधीको निखारा ‘प्रेमाख्यान’ रचनेवाले सूफ़ियोंने।

गोस्वामीजीने जब ‘भाषा’में ‘हरिगुण-गान’का निश्चय किया, तब उनके सामने काव्य-भाषाके ये ही दो रूप थे। किन्तु इनमें थोड़ा अन्तर यही था कि अवधीका विकास कथा-काव्यके अनुरूप हो रहा था और व्रजका मुक्तक काव्यके अनुरूप। गोस्वामीजीने अवधीको कथाकाव्यके अनुरूप समझकर उसीका प्रयोग किया, क्योंकि उन्हें तो रामकी कथा लिखनी थी। सूरदासजीकी भाँति स्फुट पदोंकी रचना तो करनी थी नहीं। उन्हें तो रामचरितके माध्यमसे देशकी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्थामें भी सुधार करना था। यह कार्य फुटकर गेय पदोंकी रचनाकर देनेमात्रसे सम्भव ही नहीं था। इसके लिए कोई पूरा उदात्त-चरित सामने रखना आवश्यक था। यह तभी हो सकता था जब कथा-काव्यका आश्रय लिया जाता। यही कारण है कि गोस्वामीजीने रामचरितमानसकी रचना अवधीमें की। उस अवधीमें, जिसमें कथा-काव्यकी रचना सफलतापूर्वक की जा चुकी थी। गोस्वामीजीने

यह रामकी कथा उस क्षेत्रकी भाषामें ही कहना ठीक भो समझा, जिस क्षेत्रको रामका जन्म-स्थान होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

किन्तु गोस्वामीजीने अपने दूसरे मुख्य ग्रन्थ 'विनयपत्रिका'की रचना ब्रजभाषामें की। भाषाके अनुसार गोस्वामीजीकी रचनाओंका वर्गीकरण इस प्रकार होगा :

अवधी : रामचरितमानस, दोहावली, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, बरवै-रामायण, रामलला-नहछू, वैराग्य-संदीपिनी और रामाज्ञा-प्रश्न।

व्रजभाषा : विनय-पत्रिका, गीतावली, कृष्ण-गीतावली और कवितावली।

रामचरित-मानसकी भाषा

'भाषा'शब्दका प्रयोग काव्यकी देशीभाषाके लिए सम्भवतः गोस्वामीजीने ही सबसे पहले किया है। देववाणीसे भिन्नता दिखानेके लिए उन्होंने इस शब्दका प्रयोग 'रघुनाथ-गाथा'के प्रसंगमें इसलिए किया कि उन्हें काव्यग्रन्थ और नीतिग्रन्थ दोनोंकी रचना एक साथ करनी थी। गोस्वामीजीके पूर्व लोकभाषामें जो कथाकाव्य रचे जाकर प्रसिद्ध हो चुके थे, उनकी भाषा एक तो ठीक लोक-प्रचलित या ठेठ थी, दूसरे उनमें काव्यतत्त्व कम था, सूफ़ीमतका प्रचार अधिक। उनमें भाषाकी शुद्धता और प्रौढताका तत्त्व भी कम था। उनमेंसे किसी-किसीकी भाषा तो इतनी अव्यवस्थित और खिचड़ी थी कि उसे शुद्ध रूपसे 'अवधी' कहा भी नहीं जा सकता।

प्रसङ्गानुकूल शब्दावली

अवधीके सूफ़ी कवियोंकी रचनाओंमें युद्धका वर्णन हो या प्रेमका, सर्वत्र एक ही प्रकारकी भाषा पायी जाती है। गोस्वामीजी इन लोगोंकी भाँति अशिक्षित या अल्पशिक्षित तो थे नहीं। अतएव उन्होंने मानसकी भाषामें इस बातका बराबर ध्यान रखा कि जहाँ केवल इति-वृत्तात्मक प्रसंग आये या जहाँ अल्प-शिक्षित पात्रोंद्वारा संवादोंकी योजना करनी पड़े, वहाँकी भाषा तो अत्यन्त तरल और ठेठ रखी जाय। किन्तु जहाँ आवेगशील भावना, सरस वर्णन, सिद्धान्तकी बात, भक्ति आदिके प्रसङ्ग, स्तोत्र या सांग रूपकोंके माध्यमसे विषयको हृदयंगम करानेका अवसर आये, वहाँकी भाषा तत्सम-प्रधान और शब्दावली भी संस्कृतनिष्ठ, मधुर तथा प्रवाहपूर्ण कर दी जाय। काव्यकी सरसता और चमत्कारिता तो वस्तुतः शब्दोंके उचित प्रयोगपर ही निर्भर होती है। वह सब शब्दोंका ही तो खेल है। यदि मधुर प्रसंगोंके अवसरपर कर्कश, द्वित्व-वर्णयुक्त तथा ओजःपूर्ण शब्दावलीका प्रयोग किया जाय, तो वह कैसे सुन्दर लग सकती है?

गोस्वामीजी संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। शब्द और अर्थपर उनका अखण्ड अधिकार था। इसलिए अवसरके अनुकूल शब्द-योजना करनेमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। यहाँतक कि ठेठ देशज शब्दोंको भी उन्होंने इतना सँवार दिया कि मानसमें बहुलताके साथ प्रयुक्त उनकी कोमलकान्त-पदावलीके साथ वे पूर्णतः घुल-मिल गये हैं। उनकी अनेक शैलियोंवाली शब्दावलीमेंसे कुछ उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं :

१. एक छत्र एक मुकुट-मनि, सब बरननिपर जोय।
तुलसी रघुबर नामके, बरन बिराजत दोय॥
२. जौ तुम्हरे मन अति सन्देहू। तौ किन जाइ परीक्षा लेहू॥
३. ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
४. रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइउ दूधकै माखी॥
५. आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक परवत नियराया॥
६. सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचण्डा॥
७. क्रुद्धे कृतांत समान कपि तन स्रवत सोनित राजहीं।
मर्दहि निसाचर कटक भट बलवन्त जिमि घन गाजहीं॥

विनय-पत्रिका

विनयपत्रिकाकी भाषा शुद्ध ब्रज है। इसके प्रारम्भिक ६१ पद तो स्तोत्र ही हैं जिनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं कि यदि एकआध स्थानपर आये हुए क्रियापद एवं विभक्तियाँ हटा दी जायँ तो वह स्तोत्र संस्कृतका ही प्रतीत होने लगे। देखिये :

सदा शंकरं शंप्रदं सज्जनानन्ददं शैलकन्यावरं परम रम्यं।
काममदमोचनं, तामरस-लोचनं वामदेवं भजे भावगम्यं॥
कंबु - कुंदेन्दु - कर्पूरगौरं शिवं सुन्दरं सच्चिदानन्दकन्दं।
सिद्ध-सनकादि-योगींद्र-वृन्दारका-विष्णु-विधि-वन्द्य चरणारविन्दं॥
ब्रह्मकुलवल्लभं सुलभमतिदुर्लभं विकटवेषं विभुं वेदपारं।
नौमि करुणाकरं गरलगंगाधरं, निर्मलं निर्गुणं निर्विकारं॥
लोकनाथं, शोकशूलनिर्मूलिनं, शूलिनं, मोहतम-भूरि-भानुं।
कालकालं, कलातीतमजरं, हरं, कठिन-कलिकाल-कानन-कृशानुं॥
तज्ञमज्ञानपाथोधि - घटसम्भवं सर्वगं सर्वसौभाग्य - मूलं।
प्रचुर-भव-भंजनं प्रणत-जन-रंजनं दासतुलसी शरण सानुकूलं॥

आगेके दो सौ पदोंकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण तो अवश्य ही है, किन्तु उसमें ग्राम्यत्व कहीं नहीं है। देशज या ठेठ शब्दोंका प्रयोग भी नहींके समान है। विनयोंके प्रसंगमें गोस्वामीजीने उसी प्रकारकी भाषाका अवलम्बन लिया है जिसका प्रायः चलन था। किन्तु निरर्थक और पादपूर्त्यर्थ शब्द वे कहीं नहीं लाये हैं।

गीतावली

गीतावलीकी भाषा अत्यन्त मधुर शब्दोंसे युक्त, रसमयी और हृदयको प्रसन्न कर देने-वाली ब्रजभाषा है। यह काव्य ही गेय है, इसलिए इसमें कठोर और कर्कश पदावलीका प्रयोग उचित भी नहीं था। गोस्वामीजीने इस बातका बराबर ध्यान रखा है। इसीसे इसका प्रत्येक पद रसकी धारा बरसाता मिलता है।

कवितावली

कवितावलीकी भाषा भी व्रज ही है, किन्तु जहाँ इसके अनेक छन्दोंमें अत्यन्त ओज:पूर्ण शब्दोंमें युद्धादिका वर्णन मिलता है वहाँ कोमल वर्णनोंके प्रसंगमें मधुर और श्रुतिप्रिय शब्दोंकी लड़ी भी मिलती है। अपने दैन्य-वर्णनके प्रसंगमें तो कविने अत्यन्त सीधी-सादी प्रसादगुण-सम्पन्न भाषाका ही प्रयोग किया जाता है।

कृष्ण-गीतावली

कृष्णगीतावली-रचना भी व्रजभाषाके गेय पदोंमें है, जिनमें ओजभरी शब्दावली आ ही नहीं सकती और केवल मधुर शब्दोंका प्रयोग ही ठीक रहता है। इसीलिए गोस्वामीजीने गीतावली और कृष्णगीतावली दोनोंमें एक ही प्रकारकी भाषाका प्रयोग किया गया है।

दोहावली

दोहावलीमें सरस वर्णनोंका तथा शौर्य-पराक्रम आदिके वर्णनका कोई अवसर नहीं आता। इसलिए सामान्यतया उसमें कविने प्रसाद-गुण-सम्पन्न भाषाका ही प्रयोग किया है, जैसा कि नीतिके उपदेशके लिए अपेक्षित भी होता है।

जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामलला-नहछू, बरवै-रामायण

जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामलला-नहछू तथा बरवै रामायणकी भाषामें मधुर शब्दोंकी तरल धारा बहती है। ये सभी काव्य ठेठ अवधीमें लिखे गये हैं। इनमें शब्दोंका चयन इस कौशलके साथ किया गया है कि शब्द एकके पश्चात् एक स्वयं स्वाभाविक रूपसे निकलते चले आते प्रतीत होते हैं। बरवै छन्द तो अपनी नैसर्गिक मधुरताके लिए प्रसिद्ध ही है। नहछूका सोहर छन्द भी मधुर और गेय है। स्त्रियों, द्वारा गानेके लिए लिखे जानेके कारण कविने इनमें वाणीकी मिठास कूट-कूटकर भर दी है।

रामाज्ञा-प्रश्न और वैराग्य-संदीपिनी

रामाज्ञा-प्रश्न और वैराग्य-सन्दीपिनीकी भाषा अत्यन्त सरल है। साहित्यकी दृष्टिसे भी ये ग्रन्थ महत्त्वके नहीं हैं। इनकी भाषा 'आगे चले बहुरि रघुराया'के ढङ्गकी है।

गोस्वामीजीकी भाषाकी-सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने लोकमें प्रचलित सिद्धोक्तियों और लोकोक्तियोंका प्रचुर प्रयोग करके उसे इतना लोकप्रिय एवं लाक्षणिक बना दिया है कि वह बड़ी मार्मिक हो गयी है। यह कौशल कविने व्रज और अवधी दोनोंमें किया है। इसीसे दोनों भाषाओंपर उनका समान अधिकार प्रकट होता है।

रचना-पद्धति

जिस प्रकार गोस्वामीजीने उस समय हिन्दीके काव्यक्षेत्रमें प्रयुक्त दोनों भाषाओंमें सफल रचनाएँ कीं, उसी प्रकार उस समय प्रचलित रचना-पद्धतियोंमेंसे भी प्रत्येकमें उन्होंने इस कौशलके साथ रामका गुणगान किया कि प्रत्येक पद्धतिके वे श्रेष्ठतम कविकी श्रेणीमें आ गये।

उस समय कवि-समाजमें चारणोंकी छप्पय-पद्धति, प्रेमाख्यान लिखनेवालोंकी दोहे-चौपाईवाली पद्धति, गीतिकारोंकी पदावलि-पद्धति, नीति और सूक्तिकारोंकी दोहा-पद्धति और भाटोंकी कवित्त-सवैया-पद्धतिका प्रचलन था। गोस्वामीजीने इसीलिए इन सभी पद्धतियोंमें रामका गुणगान किया कि सभी शैलियोंवाले लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल रामकथाका आनन्द ले सकें। उन्होंने मानसकी रचना दोहे-चौपाइयोंमें, विनय-पत्रिका और गीतावलीकी रचना पदों-वाली शैलीमें, हनुमान-बाहुककी रचना छप्पयवाली शैलीमें, कवितावलीकी रचना कवित्त-सवैया-वाली पद्धतिपर और दोहावलीकी रचना सूक्तिकारोंकी उपदेशवाली पद्धतिपर की। फिर भी ऐसा कहीं नहीं प्रतीत होता कि कवि किसी एक ही शैलीका पण्डित है। उनकी सबमें समान गति, सबपर समान अधिकार और सबमें समान सामर्थ्य प्रतीत होता है। प्रत्येक शैलीका एक-एक उदाहरण लीजिये :

दोहे-चौपाईकी पद्धति

सङ्कर चापु जहाजु, सागर रघुबर बाहुबलु।
बूड़ सो सकल समाजु, चढ़ा जो प्रथमहिं मोहि बस॥
प्रभु दोउ चाप-खण्ड महि डारे। देखि लोग सब भए सुखारे॥
कौसिक रूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥
रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥
सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसें। छबिगन मध्य महाछबि जैसें॥
कर सरोज जयमाल सुहाई। बिस्व बिजय सोभा जेहिं छाई॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेम लखि परइ न काहू॥
जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥
चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई॥
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला॥
गावत छबि अवलोकि सहेली। सियँ जयमाल राम उर मेली॥

पद-शैली

कबहिं देखाइहौ हरि-चरन !
समन सकल कलेस कलिमल सकल मंगल करन॥
सरद भव सुन्दर तरुनतर अरुन बारिज बरन।
लच्छि लालित ललित करतल छबि अनूपम धरन॥
गंग-जनक अनंग-अरि प्रिय कपट बटु बलि छरन।
बिप्र-तिय नृग बधिक कै दुख दोष दारन दरन॥
सिद्ध-सुर-मुनि-बृन्द बंदित सुखद सब कहँ सरन।
सकृत उर आनत जिन्हहिं जन होत तारनतरन॥

कृपासिंधु सुजान रघुबर प्रनत आरति-हरन।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥

छप्पय-पद्धति

पालो तेरे टूकको परे हूँ चूक किये न,
कूर कौड़ी दू को हौं आपनी ओर हेरिये।
भोरानाथ भोरे हौ, सरोष होत थोरे दोष,
पोषि तोषि थापि आपने न अवडेरिये॥
अंबु तू हौं अंबुचर अंत तू हौं डिंभ सो न,
बूझिये बिलंब अवलंब मेरे तेरिये।
बालक बिकल जानि पाहि प्रेम पहिचानि,
तुलसीकी बाँहपर लामी लूम फेरिये॥

कवित्त-पद्धति

सुनिये कराल कलिकाल भूमिपाल तुम!
जाहि घालो चाहिए कहौं धौं राखे ताहिको?
हौं तो दीन दूबरो, बिगारो ढारो रावरो न,
मैं हू तैं हू ताहिको सकल जग जाहिको॥
काम कोह लाइके देखाइयत आँखि मोहीं,
एते मान अकस कीबेको आपै आहिको?
साहिब सुजान जिन स्वानहूको पच्छ कियो
रामबोला नाम, हौं गुलाम राम साहिको॥

सवैया-पद्धति

बिष पावक ब्याल कराल गरै, सरनागत तौं तिहुँ ताप न डाढ़े।
भूत बैताल सखा भव नाम दलै पलमें भवके भय गाढ़े॥
तुलसीस दरिद्र सिरोमनि सो सुमिरे दुखदारिद होहिं न ठाढ़े।
भौनमें भाँग धतूरोई आँगन, नाँगेके आगे हैं माँगने बाढ़े॥

दोहा-पद्धति

का भाषा का संसकृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कुमाँच॥

इस प्रकार गोस्वामीजी काव्यके सभी क्षेत्रोंमें अद्वितीय रहे। हिन्दीका ही नहीं, अन्य भाषाओंका भी कोई कवि उनके कौशलतक नहीं पहुँच पाया। इसलिए उनके सम्बन्धमें यह कहना ठीक ही है:

तुलसी-गंग दुयौ भये, सुकविनके सरदार।
जिनकी कवितामें लही, भाषा विविध प्रकार॥

पुष्टिमार्ग-सम्मत मुक्ति : एक अनुशीलन

डा० किशोरदास स्वामी

सर्वदर्शनाचार्य, काव्यतीर्थ

★

भक्ति-मार्गानुयायी आचार्योंमें श्री वल्लभाचार्यका नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। वे पुष्टिमार्ग-सम्प्रदायके आचार्य हैं। उन्होंने सेवारूप साधनाके द्वारा मुक्तिका नया सिद्धान्त स्थिर किया है। उनके मतमें शरीरजा, चित्तजा तथा मानसी इस प्रकार त्रिविध सेवा द्वारा ही जीवका भगवान्के लीलाधाममें प्रवेश हो सकता है। इनमें मानसी सेवा भक्तिरूपा है। वही मायातीत परब्रह्मके साथ जीवका अभेद स्थापित कर सकती है। अतः मानसी-सेवा-भक्ति द्वारा निरन्तर श्रीकृष्णका आराधन करना चाहिए।

अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।[1]

समस्त उपनिषद्-वचन, गीता तथा श्रीमद्भागवत आदिका यही उपदेश है कि जीव श्रीकृष्णके साथ अभेद स्थापित करे। यह भेदसहिष्णु अभेद है। अर्थात् श्रीकृष्णके साथ मोक्ष-दशामें अभेद होनेपर भी भेद बना रहता है। भेद रहनेपर ही जीव सेवा-भक्ति द्वारा आत्मानन्दका अनुभव कर सकते हैं। भगवान्के दर्शनसे दिव्यानन्दका अनुभव होना ही सेवा-भक्तिका मधुर फल है। जो मानव तत्-तत् मन्वन्तर तथा तत्-तत् कल्पमें अवतार लेनेवाले भगवान्की सेवा करते हैं, वे ही इस फलके अधिकारी हो सकते हैं। समय-समयपर जो अवतार होते हैं, वे सब भगवान् श्रीकृष्णके ही पर्याय हैं। अतः मोक्ष चाहनेवाले जीवको श्रीकृष्णकी सेवा-भक्ति करनी चाहिए।

वल्लभाचार्यके मतमें श्रीकृष्ण ही परब्रह्म-पदवाच्य हैं। वे मायासे निर्लिप्त होनेके कारण सर्वथा शुद्ध हैं। शंकराचार्यने जिस ब्रह्मकी कल्पना की है, वह माया-शबलित है, अतः अशुद्ध है। यही कारण है कि अद्वैतवादी होते हुए भी वल्लभाचार्यको एक दूसरे शुद्ध ब्रह्मकी कल्पना करनी पड़ी। इसी कारण यह 'शुद्धाऽद्वैत'-सम्प्रदाय कहलाया। ये शुद्ध ब्रह्म निर्गुण हैं, अतएव यह मन-वाणीसे परेकी वस्तु है। फिर भी अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए सगुणरूपसे अवतार धारण करते हैं। सदा रहनेवाले तथा रसस्वरूप हैं। वे निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप धारण कर सकते हैं। यही कारण है कि उनमें परस्पर विरोधी धर्मोंका व्यवहार

---

1. सिद्धान्तमुक्तावली, का० ११।

होता है। सर्प अनेकाकार धारण करता है। वह भी सीधा चलता है, कभी टेढ़ा होकर चलता है तो कभी कुण्डलका-सा आकार बनाकर बैठ जाता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मका स्वरूप भक्तकी भावनाके अनुसार नाना प्रकारसे स्फुरित होता है। अतः कहा गया है :

तत्तूभयरूपम्......उभयरूपेण निर्गुणत्वेन आगन्तुकगुणत्वेन सर्वविरुद्ध-धर्मेण रूपेण व्यपदेशात्।......यथा सर्पो ऋजुरनेकाकारकुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति।[1]

व्यवहार चलानेके लिए उस ब्रह्मके तीन रूप हो जाते हैं। जैसा कहा गया है :

परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्॥[2]

अर्थात् परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। वे सत् चित् और आनन्दरूपसे सबमें विराजमान हैं और 'अक्षर ब्रह्म' कहलाते हैं। उस अक्षर ब्रह्मके दो रूप हैं : एक तो जगत् और दूसरा उससे विलक्षण। इस प्रकार ब्रह्मके तीन रूपठ हरते हैं :

१. परब्रह्म : सबका अन्तर्यामी और तीनों लोकोंमें, पुष्पोंमें सूत्रके समान, अनुस्यूत रहनेवाला। संसारका अस्तित्व इसी ब्रह्मके कारण होता है। ब्रह्म नित्य है, अतः उससे उत्पन्न होनेवाला जगत् भी नित्य है। **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** (ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या) आदि संसारको मिथ्या बतलानेवाली श्रुतियोंका यह अर्थ नहीं कि संसार झूठा है, बल्कि उन श्रुतियोंका मुख्य प्रयोजन, संसारकी अनित्यता बतलाकर जीवको विषयोसे विमुख करना है। विषयोंसे विमुख जीव ही मोक्षका अधिकारी हो सकता है।

२. अक्षरब्रह्म : इसकी अभिव्यक्ति, सुख, दुःख आदिका अनुभव करनेवाले जीवके रूपमें होती है। यह ब्रह्मका आध्यात्मिक स्वरूप है।

३. क्षरब्रह्म : दृश्यमान जगत् ब्रह्मका आधिदैविक रूप है। इन तीनों रूपोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वोत्तम हैं। मोक्ष चाहनेवाले जीवको इसी ब्रह्मकी सेवा करनी चाहिए।

जीवका स्वरूप और उसके भेद : परब्रह्म और अक्षरब्रह्मका परस्पर नियम्य-नियामकभाव है। परब्रह्म नियामक है और जीव नियम्य। इसलिए जीव परब्रह्मका अंश होनेसे ही आनन्दस्वरूप है। अक्षरब्रह्म (जीव) का आनन्द संसारमें आनेपर तिरोहित हो जाता है, परब्रह्मका आनन्द तिरोहित नहीं होता, यही परब्रह्म और अक्षरब्रह्ममें भेद है। फिर भी मुक्ति-दशामें अक्षरब्रह्मकी आनन्दस्वरूपता अभिव्यक्त हो जाती है।

ये जीव तीन प्रकारके हैं : [क] आसुरी प्रवृत्तिवाले जीव : ये निरन्तर दुःख-परम्पराका अनुभव करते रहते है, किन्तु प्रलयकालमें इनके दुःखका अन्त हो जाता है। [ख] मर्यादिक जीव : ये वेदोक्त मर्यादाका पालन करते हुए साधनामार्गमें तत्पर रहते हैं। ये इस लोकमें सुखका अनुभव करते और अन्तमें देहपात होनेपर मुक्त हो जाते हैं। [ग] तीसरे हैं पुष्टि

---

१. अणुभाष्यम् ३.२.२७।

२. सिद्धान्तमुक्तावली, का० ३।

मार्गीय जीव : ईश्वरके प्रति दृढ़ अनुराग रखनेवाले। भगवान्‌के नाम और रूपमें इनकी विशेष रुचि होती है। इसलिए जीवोंका भेद प्रतिपादन करते हुए कहा गया है।

तस्माज्जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्ना एव न संशयः।
भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्॥[1]

अर्थात् पुष्टिमार्गमें जीव भिन्न-भिन्न होते हैं, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं। भगवान्‌के रूपकी सेवा करनेके लिए ही इनकी सृष्टि हुई है, इनमें कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

सेवा-भक्तिकी श्रेष्ठता : इतर वैष्णवोंके समान वल्लभाचार्यने मोक्षका साधन भक्ति ही माना है और वह सेवारूपा है। इसके अतिरिक्त ज्ञान, तप, दान तथा यज्ञ-यागादि कर्म मोक्षमें सहायक नहीं हो सकते। कर्म मुक्तिदायक न होकर बन्धनके ही कारण होते हैं। ज्ञान भी मोक्षका उपाय नहीं है। यदि ज्ञानाग्नि सभी प्रकारके कर्मजालको भस्म कर दे तो भी उन जले हुए कर्मबीजोंकी भस्म तो शेष रह ही जाती है। भस्म कालिमा उत्पन्न करती है, यह निश्चित है। भगवान्‌की सेवासे ही यह कालिमा मिट सकती है। भगवान् विश्वरूप हैं और विश्वकी अन्तरात्मा है। वे सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेयोग्य हैं। सेवाके द्वारा ही भक्त उन्हें जान सकते हैं, देख सकते हैं और तद्रूपताको प्राप्त कर सकते हैं; वेद, तप, दान आदि द्वारा नहीं। अतः कहा गया है :

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैः वैदिकैरपि॥[2]

अर्थात् 'हे मन! यह बताओ कि यदि श्री गोकुलके अधिपति श्रीकृष्णको सम्पूर्ण रूपसे सब प्रकारसे अपने हृदयमें धारण कर लिया है, तो फिर लौकिक और वैदिक कर्मोंसे क्या प्रयोजन रह जाता है?'

अतः भगवान्‌के लिए ही सब कर्म करनेवाले, उसे ही परम प्राप्तव्य वस्तु माननेवाले, विषयासक्तिरहित तथा सेवा-भक्तिका आचरण करनेवाले भक्त ही उसे पा सकते हैं। कहा गया है :

तस्माद्धि भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥

इसलिए मेरी भक्ति करनेवाले तथा मुझमें मन लगानेवाले योगीका ही कल्याण होता है। ज्ञान और वैराग्य कल्याणके कारण नहीं हो सकते।

भक्तिका लक्षण तथा उसके भेद : यह भक्ति अनुरागपूर्वक ईश्वरकी सेवा है। भक्तिका लक्षण बताते हुए कहा गया है :

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

---

१. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा, का० १२।

२. चतुःश्लोकी, श्लोक ३।

भगवान्‌के माहात्म्यको समझते हुए, उनमें अधिकाधिक सुदृढ़ स्नेहका होना ही भक्ति है। उसीसे मोक्ष मिल सकता है, अन्य किसी साधनसे नहीं।

यह भक्ति दो प्रकारकी है : (१) मर्यादा-भक्ति। वेद, गीता, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें भगवान्‌का आराधन करनेकी जो मर्यादा बतलायी गयी है, उसीके अनुसार आचरण करना। (२) पुष्टि-भक्ति : ईश्वरका अनुग्रहरूप। **पोषणं तदनुग्रहः**—पोषण करना ही भगवान्‌का अनुग्रह है। माता अपने बालकको गोदमें लेकर दुलारती, सहलाती, स्नेह करती और उसका आलिंगन करती है तो बालक प्रपुष्ट हो जाता है। अथवा जब पक्षी अपने अण्डोंको सेता है तो उनमेंसे बच्चे प्रपुष्ट होकर निकलते हैं : इसी प्रकार भगवदनुग्रहसे जब भक्तके हृदयमें भक्ति संचार करती है, तो वह इतना प्रपुष्ट हो जाता है कि सांसारिक वायुके झोंके उसे विचलित नहीं कर पाते।

पुष्टिके चार प्रकार : यह पुष्टि चार प्रकारकी है—

(क) मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छाको प्रपुष्ट करनेवाली पुष्टि-भक्ति। इससे भगवान् तथा उसके परिकर-वर्गके प्रति दृढ़ अनुराग होने लगता है। इसका आचरण करनेवाले पुष्टि-भक्त कहलाते हैं।

(ख) प्रवाह-पुष्टि भक्ति : भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए निरन्तर उनके सेवा-प्रवाहमें बहते रहना। इसका आचरण करनेवाले 'प्रवाह पुष्टिभक्त' कहलाते हैं।

(ग) मर्यादा पुष्टिभक्ति : वेदोक्त मर्यादाका पालन करनेसे विषयोंसे मुक्ति दिलानेवाली। इसका अनुष्ठान करनेवाले 'मर्यादा-पुष्टभक्त' होते हैं।

(घ) शुद्ध-पुष्टिभक्ति : आन्तरिक प्रेम, भगवान्‌की सेवा-सुश्रूषा, श्रवण-कीर्तन आदिसे पैदा होनेवाली। यह भगवान्‌के अनुग्रहसे प्राप्त होती है। इसका आचरण करनेवाले संसारमें विरले होते हैं। अतः कहा गया है :

पुष्ट्या विमिश्रः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः॥[1]

चार भेदोंसे युक्त पुष्टि-भक्ति ही भगवान्‌से अभेद स्थापित करा सकती है। अत्यन्त प्रयत्नसे इसे सुदृढ़ करना चाहिए और इस भक्तिभावको बढ़ाना चाहिए। बीजभावके सुदृढ़ होने तथा श्रीकृष्णके गुणोंका श्रवण, कीर्तन आदि करनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है। भक्तको चाहिए कि सब प्रकारके व्यवसायोंका परित्याग कर श्रवण आदिसे श्रीकृष्णका भजन करे। गृहस्थाश्रमके निर्वाहके लिए व्यापार करते हुए भी भगवान्‌में चित्त लगाना चाहिए। इससे प्रभुमें प्रेम, आसक्ति और व्यसन बढ़ता रहता है। संसारमें उसी बीजकी जड़ प्रपुष्ट होती है, जो किसी कारणसे नष्ट नहीं होता। सेवा-भक्तिका बीज सुदृढ़ होनेपर सांसारिक विषयोंसे निवृत्ति होने लगती है। अहंता-ममता आदि भाव विलीन हो जाते तथा जीवमें लीलाधाममें प्रवेश करनेवाले गुण लक्षित होने लगते हैं। इस अवस्थामें भक्तको प्रतीत होने लगता है कि

१. पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा, १५॥।

धरके सगे-सम्बन्धी भगवान्‌की प्राप्तिमें बाधक हैं। उसे गृह-प्रपंचसे अरुचि होने लगती है। वहं सोचने लगता है : एकमात्र श्रीकृष्णमें व्यसन होनेसे ही इन बाधाओंसे छुटकारा मिल सकता है। ऐसे व्यसनावस्थावाले भक्तको सदा घरमें रहना अनिष्टकारी प्रतीत होता है। अतः जो भक्त घर-द्वारका परित्याग कर, भगवत्प्राप्तिके लिए एकाग्रचित्त होकर प्रयत्नशील रहता है उसके अन्तःकरणमें सबसे अधिक और सुदृढ़ भक्तिके बीज निहित रहते हैं।

किन्तु घरका परित्याग करनेसे भी नाना प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। अनचाहे दुष्टोंका संसर्ग होता है। समयपर भोजन नहीं मिलता। अन्न-दोषका भय बना रहता है। इससे जीवनमें चिड़चिड़ापन आने लगता है। तब सेवा-भक्तिका समुचित रूपसे अनुष्ठान नहीं हो सकता। अतः भक्त, भगवत्परायण होकर भगवदीय जनोंके साथ भगवान्‌के मन्दिरमें निवास करे और भगवान्‌की सेवामें तत्पर हो जाय।

सेवारूप साधन और मुक्ति : उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि सायुज्य-मुक्तिके लिए सेवा ही मुख्य साधन है। सेवाका लक्षण है :

चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनु-वित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्॥[1]

अर्थात् चित्तको प्रभुमें लगाना ही सेवा है। उसकी सिद्धिके लिए तन-मन-धनसे प्रभुकी सेवा करे। ऐसा करनेसे संसारके दुःखसे छुटकारा मिल जाता है और ब्रह्मका यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो जाता है।

यहाँ चित्तका प्रभुमें लीन करना मानसी सेवा है। साथ ही साथ पुष्टि-लाभके लिए शरीर और धनसे भी सेवा करनी चाहिए। शरीरसे श्रवण-कीर्तन, क्रीड़ा आदि करना तनुजा सेवा है। धनसे भगवान्‌के वस्त्र, आभूषण आदिका बनाना वित्तजा सेवा है। इस दो प्रकारकी सेवासे पुष्टिमार्गीय भक्त प्रपुष्ट होता है तथा उसके मनमें प्रभुकी लीला-भावनाएँ उदित होने लगती हैं। इससे श्रीहरिमें प्रीति हो जाती है। यह रागात्मक प्रेमकी प्रथम भूमि है। तदनन्तर उत्तरोत्तर सेवाका अभ्यास करते-करते जीवको सायुज्यभावकी प्राप्ति होती है। यही शुद्धाऽद्वैतवादका भगवान्‌के लीलाधाममें प्रवेश है। इसीका दूसरा नाम मुक्ति या मोक्ष है। मुक्त जीवोंका पुनरागमन नहीं होता; क्योंकि भक्त उस परब्रह्मको प्राप्त कर चुका है। उसके संसार प्राप्त करानेवाले दोष नष्ट हो चुके हैं। हेतुके अभावमें पुनरावृत्ति सम्भव नहीं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है :

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥[2]

अर्थात् जो लोग स्त्री, गृह, पुत्र, गुरुजन, अपने प्राण तथा धनको छोड़कर मेरी शरण आये हैं, मैं उन्हें कैसे छोड़ सकता हूँ?

---

१. सिद्धान्त-मुक्तावली, २।
२. द्रष्टव्य : अणुभाष्य ४.४.२३।

यद्यपि यह अभेदरूपा मुक्ति भक्तिका कार्य है और कार्य सब अनित्य होते हैं, इस रीतिसे मुक्ति भी अनित्य होनी चाहिए। किन्तु मुक्तिके लिए यह नियम लागू नहीं होता। मुक्ति ध्वंसके समान नित्य है। जिस प्रकार घटका ध्वंस हुआ, वह सदा बना रहता है, न कि दोबारा वह नष्ट हुआ घट उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार मुक्ति कार्य होनेपर भी नित्य ही ठहरती है। मुक्त भक्त अपनी सेवाके अनुसार सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य इन पाँचों प्रकारकी मुक्तियोंको प्राप्त कर सकता है। **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितः**—वह ब्रह्मके साथ संयुक्त होकर, सभी प्रकारकी कामनाओंका उपभोग करता है। ऐसी अनेक श्रुतियाँ भेद-अवस्थामें भी भोगोंके विषयमें अभेद ही बतलाती हैं।

समीक्षण

इस प्रकार श्री वल्लभाचार्यने सेवा-साधनको अपनाकर मुक्तिके एक नये सिद्धान्तकी स्थापना की है। भारतीय संस्कृतिमें सेवा एक समुन्नत भावना है और परमार्थसिद्धिका द्वार है। सगुणोपासना द्वारा ब्रह्मके साथ अभेद स्थापित करनेके लिए यह अत्यन्त सुगम मार्ग है। व्रत, उपवास आदिका अनुष्ठान, अन्न-वस्त्र आदिके परित्यागसे शरीर क्षीण हो जाता है भले ही त्याग-तपस्या आदि साधन अन्तःकरणकी शुद्धि करते हैं पर उनका अनुष्ठान कष्टसाध्य है। यही सोचकर श्री वल्लभाचार्यने सेवा-भक्तिका आश्रय लिया। सेवासे अनायास ही वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं और वासनाके न रहनेसे निर्मल अन्तःकरण ईश्वराभिमुख प्रवृत्त होता है। ज्ञान, ध्यान, जप और संयम आदि सेवासे ही चरितार्थ होते है। साधारण गृहस्थ आश्रमी भी सेवाका आचारण कर सकता है। आज भी श्री वृन्दावन, मथुरा, गोकुल आदि स्थानोंमें जन-मानसमें सेवाभावनाका प्रत्यक्ष चित्रण देखनेको मिलता है। भगवान्‌की प्रतिमाको उत्तमोत्तम वस्त्र पहनाना, चर्व्य-चोष्य, लेह्य-पेयादि पदार्थोंका उपहार करना, षड्‌रसोंका भोग लगाना, ग्रीष्म, वर्षा शरद् आदि ऋतुओंमें समयानुसार परिधानकी व्यवस्था करना ईश्वरके प्रति समुन्नत भावनाका परिचायक है। ऐसा करनेसे मानवकी जीवनचर्या संयत हो जाती है। धन, कुल, विद्या आदिका मान नहीं रहता। जीवन पवित्र तथा सात्त्विक हो जाता है। लोकसेवाके कार्योंमें प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। इस प्रकार श्री वल्लभाचार्यजीने भारतके आध्यात्मिक जीवनके ही नहीं, अपितु अपने सेवाके सिद्धान्तसे राष्ट्रके जीवनको ही संयत और परिवर्तित कर दिखाया। इस सम्प्रदायमें दीक्षित होकर कोई भी मानव-सेवाका अधिकारी हो मुक्तिलाभ कर सकता है। यही वल्लभाचार्य सम्मत मुक्तिका परिष्कृत स्वरूप है।

●

कालिदासका 'दशार्ण'

पद्मभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास

★

कालिदासने अपने मेघदूतके २५वें श्लोकमें 'दशार्ण'का उल्लेख किया है :

सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः।

इस 'दशार्ण'पर विद्वानोंने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। दशार्णको चर्चा महाभारतसे 'बृहत्संहिता' तक हुई है। मेघदूतके उल्लेखसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध विदिशा (भेलसा) से रहा है।

टौलेमीने अपने भूगोलमें दशार्णका उल्लेख Dosaran किया है। भोपालसे निकलकर वेत्रवती (बेतवा) से मिलनेवाली धसान-नदीसे जो भू-भाग सिंचित होता है, उसीका संस्कृत-रूप दशार्ण है। इस नदीका नाम मार्कण्डेयपुराणमें 'दशार्णा' लिखा है और उद्गम-स्थान स्कन्ध-पर्वत बतलाया गया है :

शोणो महानदश्चैव नर्मदा सुरथाद्रिजा।
मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूटा तथापणा ॥ २१ ॥
चित्रोत्पला च तमसा करमोदा पिशाचिका।
तथान्या पिप्पली श्रोणी विपाशा वञ्जुला नदी ॥ २२ ॥
सुमेरुजा शुक्तिमती शकुली त्रिदिवा क्रमुः।
स्कन्धपादप्रसूता वै तथान्या वेगवाहिनी ॥२३॥—अ० ५७

श्लोकमें सूचित समस्त नदियाँ, जिनमें नर्मदा और दशार्ण भी हैं, विन्ध्यसे निर्गत कही गयी हैं। वायुपुराणमें इनका उद्गम स्कंध-पर्वतके स्थानपर ऋक्षपाद पर्वतसे सूचित किया गया है। यथा :

शोणो महानदश्चैव नर्मदा सुमहाद्रुमा। मन्दाकिनी दशार्णा च···॥९९॥
ऋक्षपादप्रसूतास्ता नद्यो मणिनिभोदकाः॥१०१॥—अ० ४५

दोनों पुराणोंमें जिन नदियोंका स्कंध या ऋक्षपादसे उद्गम सूचित किया गया है, प्रायः एक-दूसरेसे बहुत समान हैं। इसलिए, स्कन्ध और ऋक्षपाद दोनों नाम भी एकार्थवाची होने चाहिए।

स्कन्धपुराणके विषयमें विद्वज्जनोंमें यह मान्यता प्रचलित है कि वह स्कन्ध, अर्थात्

विन्ध्यपर्वतावृत भागके स्थल-वर्णनके लिए ही है। अतएव स्कन्ध विन्ध्यका नामान्तर ही है ऋक्ष विन्ध्य-पर्वतमालाकी एक शाखाका ही नाम है। जिसे 'दशार्ण' कहा जाता है, मल्लिनाथने उसकी व्याख्या 'दश ऋणानि' कहकर की है, अर्थात् दस टीलेवाला भाग।

'वराहमिहिर' ने अपनी बृहत्संहितामें दशार्णा (नदी)-तटवर्ती देशको 'दाशार्ण' नामसे पूर्व-दक्षिण (आग्नेय) दिशामें सूचित किया है :

आग्नेय्यां दिशि कौशल - कलिङ्गोपवङ्ग - जठराङ्गाः।
शौलिक-विदर्भ-वत्सान्ध्रक - चेदिकाश्चोर्ध्वकण्ठाश्च ॥ ९ ॥
किष्किन्धकण्टकस्थलनिषादराष्ट्राणि पुरिकदाशार्णाः ॥१०॥

इस जनपदका स्थान विन्ध्यपर्वतके ऊपर या पीछे बतलाया है :

सराजाश्च करुषाश्च केरलाश्चोत्कलैः सह।
उत्तमार्णा दशार्णाश्च भोज्याः किष्किन्धकैः सह ॥ ५३ ॥
... ...
अन्त्यजास्तुषिकाराश्च वीतहोत्रा ह्यवन्तयः।
एते जनपदाः सर्वे विन्ध्यपृष्ठनिवासिनः ॥५५॥—अ० ५१

वायुपुराणमें भी जिन जनपदोंको विन्ध्यपृष्ठ-निवासी बतलाया है, उनमें दशार्ण है। किन्तु मार्कण्डेयपुराणसे थोड़ा अन्तर है :

मालवाः करुषाश्चैव मेकलाश्चोत्कलैः सह।
उत्तमार्णा दशार्णाश्च भोजाः किष्किन्धकैः सह ॥१३२॥—अ० ४५

इन उद्धरणोंसे यह स्पष्ट है कि दशार्ण-जनपद धसान-नदीके इधर-उधरकी भूमि है और वह भारतके उन जनपदोंमें है, जो विन्ध्य-उपत्यकामें नीचे या ऊपर बसे हैं।

महाभारतमें इस विषयमें कुछ भिन्न बात है। सभापर्वमें भीमके दिग्विजयके प्रसंगमें इसका उल्लेख पूर्वदिशामें किया गया है। भीमने इन्द्रप्रस्थसे पूर्वको चलकर प्रथम पांचालको जीता था। यह उत्तर-पांचाल होना चाहिए, जो वर्तमान रुहेलखण्ड और पश्चिमी अवधके कुछ भागोंमें विभक्त है। बाद, वह सीधा गंडकीके तटवर्ती जनपदोंमें आ पहुँचता है। इससे यह विदित होता है कि उस समय उत्तर कोसल या अयोध्याका स्वतन्त्र जनपद नहीं रहा होगा। संभवतः पांचालके अन्तर्गत हो गया होगा। पांचालकी सीमा भी लगभग प्रयागतक बढ़ गयी होगी। द्रौपदीके स्वयंवरके पश्चात् द्रोणके साथ पांचालोंकी प्राचीन संधिका संशोधन हुआ होगा तथा अहिच्छत्रपर द्रोणका नाममात्र अधिकार रहा हो। इसके बाद पूर्वमें ही भीमने विदेह या मिथिलाका विजय किया होगा, बाद वह दक्षिणकी ओर गया और उसने दशार्ण-विजय की। उस समय दशार्णका राजा 'सुधर्मा' था।

तस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ॥ १ ॥
... ...

…ततः स गण्डकान् शूरो विदेहान् भरतर्षभ ॥ ४ ॥
विजित्याल्पेन कालेन दाशार्णान् स जयत्प्रभुः।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ॥ ५ ॥
कृतवान् भीमसेनेन महद्युद्धं निरायुधम्।
भीमसेनस्तु तद्दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ॥ ६ ॥
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम्।
ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥

—सभापर्व, अ० १५

इस दशार्ण देशके राजा सुधर्माको परास्त कर उसने उसे अपनी सेनाका सेनापति बना लिया था।

इस घटनासे यह प्रतीत होता है कि दशार्णका विस्तार पांचाल और गण्डकीके जनपदों-तक हो गया था। पहले मिथिलाकी विजय करके फिर दशार्णपर चढ़ाई करनेमें भीमसेनने अपने पार्ष्णिभागकी रक्षा आवश्यक समझी होगी।

दशार्णको प्रो० विल्सन और डॉ० भाण्डारकर दो भागोंमें विभक्त बतलाते हैं: पूर्व-दशार्ण और पश्चिम-दशार्ण।[1] पूर्व-मालव, जिसमें भोपालकी सीमा सम्मिलित है, भाण्डारकरकी सम्मतिमें पश्चिमी दशार्ण है। इसकी राजधानी विदिशा बहुत समयतक रही है। देवीपुराण (अ० १७३) में इसे 'वैदिश' देश बतलाया हैं। कालिदास ने भी विदिशाको समस्त दिशाओंमें प्रसिद्ध राजधानी कहा है :

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्।

'मालविकाग्निमित्र' में इसके वैभव (शुङ्गकालीन) का पर्याप्त वर्णन किया है। विदित होता है कि इससे पूर्व वैदिश-देशकी राजधानी 'चैत्यगिरि' थी, जो सांचीके रूपमें अपना प्रतिनिधित्व कर रही है।

प्रो० विल्सनका पूर्व-दशार्ण वर्तमान छत्तीसगढ़ (चेदिशगढ़) के कुछ भागसे संलग्न था। यह नर्मदाके दक्षिणमें ही है। किन्तु प्रो० विल्सनका यह मत ठीक माना जाय, तो चेदिश-राज्यका भाग दशार्णमें होना चाहिए। यह भाग वर्तमान 'चन्देरी' सम्भव है।

'मालव' एक जनपदवाची शब्द है, जिसकी सीमा मालवजनोंकी सत्ताके अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। जिस समय मालवजनोंका विस्तार मलय या मालदातक पहुँच गया था, उस समय वह मालव-सीमा थी और जब मालवकी सत्ता सम्पूर्ण राजपूतानेसे सिन्धु-तक थी, तब मारवाड़का बहुत भाग मालव-जनपदमें था। ११वीं शतीमें राजशेखरके अनुसार आबू (अर्बुद) मालव-जनपदका ही अंग था। इसी प्रकार, एक समय पूर्वकालमें पंजाबका

---

१. (क) डॉ० भाण्डारकर : दक्षिणका इतिहास।
(ख) प्रो० विल्सन, विष्णुपुराण (Halls Do, vol. II. P. 160, Note)
(ग) ज्योग्राफिकल डिक्शनरी, पृ. ५४ और ज. अ. सो. बं., १९०५ पृ. ७–१४।

मुलतानतकका भाग मालव माना जाता था। वहाँतक मालवोंका प्रभाव-प्रतिष्ठान था। इसलिए यह स्पष्ट है कि मालव किसी भौगोलिक सीमाका नाम नहीं था, किन्तु मालवजनोंकी राजनीतिक सत्ताके विस्तारकी सीमाका ही इससे बोध होता है। दशार्णके साथ भी आकर और अनूपका उल्लेख मिलता है। वायुपुराण (अ० ४५) में लिखा है :

अनूपास्तुण्डिकेराश्च वीतहोत्रा ह्यवन्तयः।
एते जनपदाः सर्वे विन्ध्यपृष्ठनिवासिनः ॥ १३४ ॥

बृहत्संहिता (अ० १४) में लिखा है।

कङ्कटटङ्कणवनवासिशिविक.फणिकारकोङ्कणाऽभीराः।
आकरवेणाऽवन्तक - दशपुरगोनर्द - केरलकाः ॥

'दश-ऋण' इस शब्दकी व्याख्यामें 'ऋण'का अर्थ जल और दुर्गका भूमि भी है। कोशकारने 'दुर्गभूमौ जलाशये' कहा भी है। जैनग्रन्थ 'अम्बराङ्गनिर्युक्ति' में दशार्णमें गजपद-तीर्थका होना बतलाया है (दशार्णदेशस्य दशार्ण पर्वतपर गजपद-तीर्थ था)।

महाकवि कालिदासने मेघ-यात्राका जो मार्ग प्रदर्शित किया है, वह यथाक्रम है। उसने चम्बल-वेत्रवतीके मध्यवर्ती भागको 'दशार्ण' कहा है, जहाँ निर्विन्ध्या नदीका उल्लेख है। कालिदासकी 'सिन्धु' नदीको कालिसिन्ध-नदी (मालवकी) मानना होगा। वही उस पथमें है। दशार्णकी पश्चिमी सीमा चम्बलको पुराकालमें भी स्वीकार किया गया है। उस स्थितिमें दशार्ण और अनूप निकटवर्ती होते हैं। वहाँ स्पष्ट ही चम्बल और वेतवा (वेत्रवती) का मध्यवर्ती पार्वत प्रदेश 'आकर' है तथा सपाट भाग 'दशार्ण'। यह विस्तृत भू-भाग अनेक नदियोंसे सिंचित है, जो चम्बल, यमुना, गंगा अथवा सोन नदियोंमें जाकर मिलती हैं। प्रायः ये दस नदियाँ हैं।

चम्बलके पूर्वी तटपर गिरनेवाली नदियाँ कालिसिन्धु, उसकी सहायक नदियाँ— परवान, कुमारी, आसन, पारवती, सिन्धु ये जाकर इटावाके पास चम्बल-सहित यमुनामें मिलती हैं। इस संगमका नाम 'पञ्चनद' है। यह दशार्ण-पञ्चनद है।

यमुनामें मिलनेवाली नदियाँ—वेत्रवती और सहायक-दशार्ण (धसान), केन, वृका (बाघिन) हैं। गंगामें मिलनेवाली—तमसा (टौंस), कर्मनाशा एवं सोन नदियाँ हैं। इस प्रकार ऋण शब्द जलवाचक हो, तो भी 'दशार्ण' माना जाना स्वाभाविक है।

महाभारतके सभापर्वमें नकुलके दिग्विजयके प्रसङ्गमें पुनः 'दशार्ण' का उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है :

निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम्।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥
ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत्।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतिकमुपाद्रवत् ॥ ३ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीत् शूरैर्मत्तमयूरकैः।
मरुभूमिं च कात्स्न्येंन तथैव बहुधान्यकम् ॥ ४ ॥
शैरीषिकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तत्र युद्धमभून्महत् ॥ ५ ॥
तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः।
शिबिस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान् ॥ ७ ॥—अ० ३२

इस उद्धरणमें सूचित 'खाण्डवप्रस्थ' से प्रायः कुछ लोग 'इन्द्रप्रस्थ' का अनुमान करते हैं। किन्तु, पूरे सन्दर्भसे विदित होता है कि यह खाण्डप्रस्थ वर्तमान 'खण्डवा' का ही भू-भाग है; क्योंकि इसीसे आगे चलकर कार्तिकेयकी भूमिका स्पष्ट संकेत है। यह भूमि खण्डवासे चलकर माहिष्मती है, जो कार्तिकेयकी प्रमुख राजनगरी रही है और यही प्रदेश 'बहुधान्यक' रहा है। अनूप (नीमाड— वर्तमान) पुराने समयसे सारे देशमें गेहूँ और धान्यके लिए प्रख्यात रहा है, जिसे आगे चलकर इन्ही श्लोकोंमें 'महेत्थक' कहा गया है। इसी मार्गसे आगे संलग्न भूमि 'दशार्ण' है। यह खण्डवासे ही सुसङ्गत रहती है।

अन्तमें स्पष्ट ही श्लोकमें 'तान् दशार्णान् स जित्वा' लिखकर उक्त क्रमकी ही सङ्गति सूचित की गयी है। किन्तु 'तां दशार्णान्' शब्दसे विदित होता है कि दशार्णमें कई स्थान रहे हैं, जिन्हें 'तान्' बहुवचनसे सूचित किया है, यह बतलाता है कि दश-ऋण (पर्वत) की यह भूमि विस्तृत थी। उक्त दशार्णमें मरुभूमिका भी उस समय समावेश हो गया था। ११वीं शतीका राजशेखर इसका साक्षी है। दशार्णकी व्यापकता होते हुए भी वह विदिशासे सम्बद्ध था। उसके पश्चात् ही मालव-भूमिका आरम्भ होता है।

वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें भी जिन दक्षिणके देशोंका वर्णन है, उसमें दशार्णका उल्लेख है। वह यही दशार्ण है।

●

सुख दुःख सम्पद बिपद एकरस प्रेम बढावै।
जागत सोवत सपन सदा अनुगुणित दृढावै॥
वही सुजन विश्राम धाम आराम राम है।
तन यौवन वन अरैं किसीसे कुछ न काम है॥
पल-पल परदा हटै सटै मन नेह नवल घृत।
ऋत मधुरामृत पूर मग्न प्रियतम सुख संभृत॥
नित-नित नव-उन्मेष निमज्जन-उन्मज्जन हो।
मैं को सुधि-बुधि खोइ प्रीति-रस संमज्जन हो॥

●

वर्तमान मानव

डा० श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री

★

'विष्णु-पुराण'में वर्तमान युगके मानवका चित्रण नीचे लिखे अनुसार है :

अर्थ एव अभिजनहेतुः ।
धनमेवाशेष-धर्महेतुः ।
अभिरुचिरेव दाम्पत्यसम्बन्धहेतुः ।
अनृतमेव व्यवहारजयहेतुः ।
स्त्रीत्वमेव उपभोगहेतुः ।
ब्रह्मसूत्रमेव विप्रत्वहेतुः ।
लिङ्गधारणमेव आश्रमहेतुः ॥
(४।२४,२१)

उसके लिए कुलीनताका मापदण्ड सम्पत्ति है, धर्माराधनका लक्ष्य धन, विवाह-सम्बन्धका आधार वैयक्तिक आकर्षण, परस्पर व्यवहारमें विजयका मन्त्र झूठ, आनन्दका एकमात्र साधन नारी, ब्राह्मणत्वका आधार जनेऊ और आश्रमका आधार विशेष प्रकारकी वेषभूषा हैं।

धर्मसंस्था मानव-जीवनको जो दुर्लभ एवं बहुमूल्य बता रही थी, उसका कोई अर्थ नहीं रहा। हम सब इन्द्रिय-जीवी बन गये हैं। इच्छा-तृप्तिके अतिरिक्त जीवनका कोई लक्ष्य नहीं दिखाई देता।

विज्ञान तथा तकनीकीने ऐसी पीढ़ीको जन्म दिया है जो साफ-सुथरी, दुबली-पतली, अविश्वाससे भरी तथा छिछलेपनको लेकर बुद्धिमत्ताका दावा कर रही है। प्रत्येक बातमें सन्देह प्रकट करती है। प्रश्न करती है किन्तु उसका लक्ष्य जिज्ञासा-निवृत्ति न होकर अस्मिता (अहंभावकी) तृप्ति होता है। वह पीढ़ी बौद्धिक पर्यालोचनका क्लेश नहीं उठाना चाहती। किसीपर विश्वास करनेको भी तैयार नहीं। आराम-तलब, बुद्धि, तर्क एवं ऊहापोहसे बचती है और अस्मितासे अभिभूत होनेके कारण श्रद्धाको बुरा मानती है।

दूसरी ओर एक वर्ग अपनी धारणाओंके अन्तिम सत्य होनेका दावा करता है। किन्तु उसके लिए जो तर्क अथवा आधार प्रस्तुत करता है, वे अपने-आपमें अधूरे हैं। उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। उसकी बुद्धिपर देवी-देवता और साम्प्रदायिक मान्यतायें इस प्रकार छायी हुई हैं कि उनसे ऊपर उठनेका साहस ही नहीं होता। जो व्यक्ति सन्देह करता है, उसे अधूरे तर्क, क्रोध अथवा आक्रमण द्वारा चुप करनेका प्रयास किया जाता है; तर्कसंगत समाधान द्वारा नहीं। फलस्वरूप सत्यान्वेषणकी बातें खाली समयमें जी बहलानेकी वस्तु बनी हुई हैं, जीवनको मोड़ देनेकी नहीं। वे लोग दावे तो सत्यनिष्ठाके करते हैं, किन्तु स्वार्थपर तनिक-सा

आघात होते ही उससे अलग हट जाते हैं। सिद्धान्त केवल बातें करनेके लिए हैं। व्यवहार तात्कालिक आवश्यकता अथवा स्वार्थको लेकर होता है। सच्ची जिज्ञासा अथवा ज्ञान-पिपासा उतना बल नहीं रखती, जितनी भोगलिप्सा और बाह्य महत्त्वाकांक्षाएँ। वे ही जीवनका संचालन कर रही हैं।

महाकवि यीट्स (W. B. yeats) के शब्दोंमें समाजका उच्चवर्ग निष्ठाहीन हो गया है। उसे किसी बातमें विश्वास नहीं है। दूसरी ओर निम्नवर्ग भावनाओंमें डूबा हुआ है। ज्ञान विशृङ्खलित तथा दिशाहीन होता जा रहा है। मस्तिष्क अस्त-व्यस्त है और शरीर थका हुआ। प्रत्येक चेष्टासे बेचैनी टपकती है। हिंसा तथा कामुकता बुरी वस्तुएँ नहीं रहीं। निरर्गल अधिकार-लिप्साको महत्त्वाकांक्षाके रूपमें सराहा जा रहा है। बटुएका घमण्ड और कुर्सीका उन्माद उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। हम दयामयी माताके स्थानपर रहकर भी निर्दयताके पुजारी बन रहे हैं। मानसिक तनाव व्यक्तित्वको विशृङ्खलित कर रहे हैं। एक आघात इधर धकेल रहा है तो दूसरा उधर। चिन्ताएँ बढ़ रही हैं। बाह्य आघातोंके कारण सब कुछ अस्त-व्यस्त हो रहा है।

मानवतापर सबसे बड़ा प्रहार आर्थिक असुरक्षाका है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर रहा है कि पता नहीं, कल क्या हो जाय। फलस्वरूप पलायनकी मनोवृत्ति बल पकड़ रही है। संवेदनका स्थान जड़ता ले रही है और परस्पर सहयोग एवं उदारताका संकुचित स्वार्थ। हृदय कमलपत्रके स्थानपर पत्थर बन रहा है। सभ्यता, सदाचार, न्याय तथा कर्तव्यकी बातें निजी दुर्बलताओंपर पर्दा डालनेका प्रयास बन गयी हैं। उदात्त भावनाएँ निरा प्रदर्शन रह गयी हैं। नयी पीढ़ीका मन चञ्चल और अस्थिर है। बिना पतवारकी नौकाके समान उसे एक तरङ्ग इधर बहा ले जाती है तो दूसरी उधर। उसके सामने न कोई निष्ठा है और न सामाजिक मूल्य ही है। किसी भी धारणामें दृढ़ता नहीं है। मनोबल समाप्त हो रहा है। तनिक-सा कष्ट आने अथवा प्रलोभन मिलनेपर रास्ता छोड़ देते हैं। साथ ही अपनी कायरतापर पर्दा डालनेके लिए नये-नये तर्क गढ़ते रहते हैं। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी निर्जीव परम्पराओंसे चिपकी है और प्रेरणाके स्थानपर कुण्ठा उत्पन्न कर रही है। उसके लिए जीवित व्यक्तित्वका उतना मूल्य नहीं, जितना निर्जीव कङ्कालका। वह जीवित तत्त्वको नास्तिक कहती और निर्जीव हो जानेपर उसीकी पूजा करने लगती है। औचित्य-अनौचित्यका विवेक करनेवाली बुद्धि पाप है और अन्धश्रद्धा धर्म। हृदय-शुद्धिका स्थान बाह्य वेश-भूषा ले रही है। उसीको उत्कृष्टताका मापदण्ड माना जा रहा है।

फलस्वरूप नयी पीढ़ी धर्मको वर्ग-विशेषकी दूकानदारी एवं ठगी मानकर उससे दूर हट रही है। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ीको मिथ्यावादी, नास्तिक, पापी आदि शब्दों द्वारा गालियाँ देकर तृप्त हो लेती है। वास्तविकताकी ओर किसीका ध्यान नहीं है। परस्परकी दूरी बढ़ रही है। इसका एक ही उपाय है कि धर्मको परलोकका टिकट न समझकर उसपर जीवनकी दृष्टिसे विचार किया जाय। सत्य, परस्पर प्रेम, लेन-देनमें ईमानदारी आदि गुणोंकी अब भी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी पहले थी। उनके बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। इतना ही नहीं, उसका अस्तित्व खतरेमें पड़ गया है। ऐसे समय धर्म ही मानवीय मूल्योंकी पुनः प्रतिष्ठा कर सकता है। ●

अचाह ही श्रेय : गीताका समत्व-बुद्धियोग

श्री रामबहादुर पाण्डेय

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं : 'समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है। इसलिए धनञ्जय ! समत्व-बुद्धियोगका आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फलकी वासना-वाले अत्यन्त दीन होते हैं। समत्वबुद्धियुक्त पुरुष इसी लोकमें पुण्य, पाप दोनोंको त्याग देता है अर्थात् उनसे लिप्त नहीं होता। इसलिए समत्वबुद्धियोगके लिए ही चेष्टा कर, यह समत्वबुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है।' (द्रष्टव्य : गीता २.४९-५०)

इस तरह यहाँ सकाम कर्मको भगवान् श्रीकृष्णने अत्यन्त तुच्छ कहा है। कर्मको कामनासे रहित होकर करना है। अर्थात् कोई भी कर्म संसारमें अचाह होकर, फलासक्तिसे रहित होकर करना है। प्रश्न उठता है कि यह कामना, चाह या इच्छा क्या है और यह क्योंकर त्याज्य है ?

प्रायः हम देखते हैं कि संसारमें मनुष्य कोई भी कार्य किसी अभावसे प्रेरित होकर करता है। वह अभाव की पूर्ति चाहता है। इस अभावकी पूर्तिसे इच्छाकी उत्पत्ति होती है। अभावकी पूर्तिकी आतुरता ही इच्छा है। जबतक हम इच्छाशक्तिसे युक्त रहते हैं अथवा हमारे मनमें इच्छाशक्तिका पूर्ण विकास जारी रहता है, तबतक हम इच्छाओंके समूहसे छुटकारा नहीं पा सकते। इच्छाशक्ति अनन्त इच्छाओंको जन्म देती रहती है। इच्छाशक्तिका गुण है, इच्छाओंको जन्म देना। एक समयमें केवल एक ही इच्छा होती है, यह भी कहना गलत है। वास्तवमें होता ऐसा है कि इन अनन्त इच्छाओंके समूहमें एक ही इच्छा अत्यन्त तीव्र एवं अन्यकी अपेक्षा विशेष स्थान रखनेवाली होती है। इसलिए एक समयमें एक ही इच्छाका विशेष अस्तित्व रहता तथा उसीकी तीव्रता अनुभूत होती है। यदि एक ही इच्छा एक समयमें उत्पन्न होती तो उसकी पूर्तिके बाद कम-से-कम कुछ विश्राम तो मिल सकता था। लेकिन ऐसा नहीं होता। एक इच्छाकी पूर्तिके पीछे ही दूसरी तीव्र इच्छा अपना क्रम बना लेती है। यद्यपि इस इच्छाकी पूर्ण सामग्री पहलेसे ही विद्यमान थी, एकदम ही उसका प्रादुर्भाव हुआ, ऐसा नहीं। बल्कि अभी-तक उसके लिए स्थान रिक्त न होनेके कारण वह प्रकट होनेमें असमर्थ थी; क्योंकि एक इच्छा अभी क्रम लगाये हुए थी। कभी भी दो इच्छाएँ समान शक्तिवाली नहीं होतीं; भले ही इच्छाओंका अनन्त क्रम जारी रहे। यदि कभी एकदम दो इच्छाएँ समान रूपसे सामने आयीं तो भी विभिन्न प्रकारके कारणों द्वारा एकका महत्त्व कम हो जायगा। वे एक दूसरेकी प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह सकतीं। स्थान रिक्त होनेपर एक ही इच्छा आगे आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेती है।

लेकिन इच्छा स्वयंमें कभी पूर्ण नहीं होती। वह सदैव ही अभावकी द्योतक है। इच्छाएँ अनन्त होती हैं और उनकी पूर्ति सीमित; जिसके कारण उनका सामञ्जस्य नहीं हो पाता। इस प्रकार माँगकी उपादेयता बढ़ जाती है; क्योंकि माँग अधिक और पूर्ति कम होनेके कारण ही हमें सुख-दुःखका अनुभव होता है। आंशिक सन्तृप्तिमें सुखकी अनुभूति होती है और पूर्तिके अभावमें दुःखकी। माँग और पूर्ति बराबर होनेपर किसी भी तृप्तिमें सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अतः वह सुख स्थायी नहीं, केवल कुछ समयके लिए ही हो पाता है।

वास्तवमें इच्छाओंकी दोनों ही दशाएँ घातक होती हैं। उनकी अपूर्तिमें तो दुःख होना स्वाभाविक ही है, लेकिन पूर्ति तो और भी अन्धकारपूर्ण दृष्टिगोचर होती है। क्योंकि तृप्त इच्छा तो और दूसरी इच्छाओंको खड़ा कर देती है, जिससे इच्छाशक्तिके दृश्यमान जगत्की गति और भी तीव्र हो जाती है। इससे जीवनकी शान्ति कोसों दूर चली जाती है। कभी-कभी तो ऐसा देखा गया है कि इच्छाओंका विघटनकारी विरोध मनुष्यको लक्ष्यहीन बनाकर इतना बेचैन कर देता है कि मनुष्य आत्महत्यातक करनेको तैयार हो जाता है। इस प्रकार तृप्त इच्छा सुखकी अपेक्षा दुःखका अधिक कारण बन जाती है, जिससे शान्तिका प्राप्त होना असम्भव-सा ही जना पड़ता है।

पूर्तिकी आशा और निराशा हमें दिन-रात इतना संलग्न बनाये रखती हैं कि दिमाग कभी भी उनसे खाली नहीं हो पाता। अन्य सभी क्रियाओंसे निवृत्ति प्राप्त होनेके बाद भी मन कभी इनकी कमीका अनुभव नहीं करता, जिससे मानसिक विकृतिका आ जाना साधारण बात हो जाती है। तात्पर्य यह कि मन कभी भी इन चिन्ताओंसे मुक्त नहीं हो सकता। इस तरह तृप्ति और अतृप्ति दोनोंसे ही कभी पूर्ण सन्तोष नहीं होता।

इस प्रकार इच्छाकी पूर्ति एवं अपूर्ति दोनों ही दुःखप्रद है। दोनों ही दशाओंमें शान्ति, सुख एवं सन्तोषकी प्राप्ति असम्भव है। लेकिन क्या ऐसी कल्पना सत्य सिद्ध होगी कि इच्छाओंकी अनुपस्थिति शान्ति, सन्तोष एवं सुख प्रदान करनेमें समर्थ हो जाय? जब दुःखका मुख्य कारण इच्छाशक्तिका दृश्यमान जगत् ही है, तो फिर इच्छाकी अनुपस्थिति स्वयं ही दुःखकी अनुपस्थिति होगी। यह सोचकर अचाह हो जाना ही श्रेयस्कर है। यह गीताके समत्वबुद्धि-योगका सार है। यही श्रीकृष्णका सन्देश है।

भगवान्का प्रिय

जो हर्ष, द्वेष, शोक तथा इच्छाओंसे दूर है, शुभ-अशुभकी आसक्ति छोड़ चुका है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय लगता है। (गी. १२. १७.)

श्रीकृष्णका गोपालन

श्री गयाप्रसाद ज्योतिषी, एम. ए.

★

भगवान्‌ने कृष्ण-अवतारमें जैसा गोपालन किया है, वैसा किसी दूसरे अवतारमें नहीं किया। श्रीकृष्ण-चरित्रसम्बन्धी श्रीमद्भागवतका एक प्रसंग महाकवि सूरदासजीके इस पदमें देखिये :

मैया मैं नहिं माखन खायो !
भोर भये गैयनके पीछे मधुबन मोहि पठायो।
चार पहर वंशीवट भटक्यों साँझ परे घर आयो॥

इस पदमें भगवान् कहते हैं कि मैं चार पहर अर्थात् दिनभर गायोंके साथ घूमता रहा। संध्याकालमें घर लौटा अर्थात् दिनभर गायोंके साथ रहा।

जब ब्रह्माजीको मोह हुआ था, तबकी कथा है कि एक तरफ गायें चरती थीं तो दूसरी तरफ उनके साथी खेल रहे थे। तब ब्रह्माने मौका देख गायोंको चुरा लिया, साथियोंको भी चुरा लिया। एक वर्षतक भगवान् बछड़ों और साथियोंके रूपमें गौओं और गोपियोंका स्तनपान करते रहे। उस समय भगवान् सारे व्रजमें छा गये थे। स्वयं ब्रह्माने अपनी स्तुतिमें कहा है :

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥ (भाग० १०.१४.३२)

किसी पाश्चात्त्य विद्वान्‌ने ठीक ही कहा है : Second mind in a sound body अर्थात् 'स्वस्थ मन स्वस्थ शरीरमें रहता है।'

अन्यत्र कहा है कि ऋषिने अपने पुत्रसे पूछा कि ब्रह्म क्या है? वह इसका उत्तर न दे सका। तब उन्होंने कई दिनोंतक उससे व्रत कराया, जिससे वह बिलकुल भूल गया। इसी प्रसंगमें आया है कि गोदुग्ध एक ग्लासभर पीनेको दिया तो उसकी स्मृति जागरित हो गयी और वह सब बताने लगा :

कच्चा दूध, धारोष्ण दूध—जिसमें दूधका सार मक्खन रहता है, वही भगवान्‌को प्रिय था। इससे शरीरमें फुर्ती, बल, पौरुष बढ़ गया और वे शक्तिशाली पहलवानोंको कुछ नहीं समझते थे। कंस, चाणूर आदिको गेंद-सी उठाकर फेंक देते थे। यही खेल था, यही थी वात्सल्यलीला, जिसमें कितने राक्षसोंका वध किया तथा उन्हें अपने धाममें भेज दिया।

●

पूज्य श्री भाईजीकी अन्तिम पद-रचना

श्री हितशरण शर्मा

गीताप्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित धार्मिक मासिक 'कल्याण' के नित्यलीलाप्रविष्ट सम्पादक पूज्य श्री भाईजी (श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार) का नाम भारतवर्षके आस्तिक-समाजमें सुविख्यात है। मासिक-पत्र 'कल्याण' के माध्यमसे उनकी पद्य और गद्यमें प्रकाशित धार्मिक-रचनाएँ अत्यन्त चावसे पढ़ी जाती रही हैं। यद्यपि पूज्य श्री भाईजी आत्म-प्रचार एवं यश-लिप्सासे कोसों दूर रहते थे, इसलिए अपनी रचनाओंमें कहीं भी साहित्यिक प्रचलनके अनुसार वे अपना नाम अङ्कित नहीं करते थे। फिर भी उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्वसे प्रभावित लोगोंसे उनकी रचनाएँ छिपती नहीं थीं और उन्हें पढ़कर वे रसाप्लावित होते रहते थे।

पूज्य श्री भाईजीका यह रचना-क्रम अन्तिम समयतक निर्बाध चलता रहा। अन्तमें रोग-जर्जरित शरीर एवं अशक्त हाथोंसे रोगशय्यापर पड़े-पड़े उन्होंने वङ्ग-लिपिमें जिस पदकी रचना की, वह उनकी उच्चतर आध्यात्मिक स्थितिका द्योतक है। पूज्य भाईजीके व्यक्तित्वसे परिचित जन यह जानते हैं कि वे प्रेमा-भक्तिकी उस उच्च भाव-भूमिपर अधिष्ठित थे, जहाँ स्व-पर, राग-द्वेष, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःखका कोई भेद नहीं रहता; जहाँ समस्त द्वैत मिटकर प्रियतमकी क्रीड़ा, उनकी नित्य-नूतनलीलामें अन्तर्हित हो जाते हैं। सर्वदा, सर्वत्र, सबमें अपने प्रियतमका नित्य नवीन आभास पानेवाली भाव-दृष्टि भाव-मर्मज्ञ स्वजनोंकी तदनुकूल भावाभिव्यक्ति एवं अनुवर्तनसे सुख पाती है। भाव-जगत्का खेल ही कुछ अनूठा है, जहाँ सुखमें दुःख, दुःखमें सुख, संयोगमें वियोग और वियोगमें संयोग भासता है। पूज्य भाईजीकी पीड़ामें अपने प्रियकी मधुर क्रीड़ाका जो भास होता रहा, वह उनकी इस अन्तिम पद-रचनासे स्पष्ट है :

अबकी बार व्याधि..........पीड़ा सज्ज प्रिय तुम आये।
बीच - बीचमें स्वांग बदलते रहते तुम मनभाये॥
देख तुम्हारी इस आकृतिको घरवाले थर्राये।
....॥
....।
....॥
छोड़ शरीर तुम्हें पा नित मैं सानन्द मौन समाऊँ।
..............................मैं सुख सङ्ग सिधाऊँ॥
पर कैसे बच्चोंको, मित्रों-घरवालोंको समझाऊँ।
कैसे आश्वासन दूँ, कैसे उन्हें रहस्य बताऊँ॥
मेरी करुण प्रार्थना सुनकर उन्हें तुम्हीं समझा दो।
....................सबको कुछ अपना मर्म जता दो॥

हो जायें ये निहाल जानकर गूढ़ - रहस्य तुम्हारा।
मिट जायें तुरन्त इनका भ्रम-शोक मोह - दुःख सारा॥
पा जायें ये तुमसे प्यारे, ज्ञान - प्रेम - सुख - आलय।
सदा - सर्वदाको मिट जाये, मायामय दुःखालय॥
तुमसे होता नहीं अमङ्गल कभी किसीका प्यारे।
करते नित मङ्गल.....................................॥
भोक्ता भोग्य भोग - सब कुछ ही यहाँ बने तुम ही।
खेल खिलौना बने....................खेलते तुम ही॥
कभी.........................सब बन स्वयं नाचने गाते।
कभी व्याधि......दुःखसे शोक मोह सज पड़े सिसकते॥
लीलामय तुम नित मनमानी लीला करते रहते।
....॥
क्यों वैसी रचना करते हो मज़ा तुम्हें क्या आता।
होता कोई.....................तो इसे समझ कुछ पाता॥

विदित हो कि पूज्य श्री माईजीने यह पद शरीर छोड़नेसे कुछ दिन पूर्व ही अपनी महीनों लम्बी बीमारीके उपरान्त लिखा था। उस समय उनके हाथ काम कर सकनेमें समर्थ नहीं हुए थे। एक दिन कागजोंका पैड उठाया और सोये-सोये कलमसे कुछ लिख डाला। उस समय वे अत्यन्त पीड़ाग्रस्त थे। अनेक उपचारों, डाक्टरोंके इञ्जेक्शनकी सुइयोंसे उनका सारा शरीर बिंध गया था। चिकित्सा-उपचार जो भी पासवाले चाहते, कराते। उन्होंने कभी कोई आपत्ति नहीं की। केवल यही हिदायत थी कि कोई अशुद्ध औषधि, जिसके तैयार करनेमें हिंसा होती हो, उन्हें कदापि न दी जाय। बादमें उनके द्वारा लिखे उस पृष्ठको देखा गया तो विदित हुआ कि लेखकी लिपि बंगला है और भाषा हिन्दी तथा कुछ पद-सरीखे लिखे हैं। कमजोरीसे हाथ काँपते थे, इसलिए हाथकी लिपि सरलतासे पढ़नेमें नहीं आ सकी। बंगला लिपि जाननेवाले हिन्दीभाषी कुछ लोगोंने मिलकर उसका जो लिप्यन्तर किया, उसकी नक़ल ही इस लेखमें दी गयी है। बीच-बीचमें जहाँ स्थान छूटा है, वहाँके शब्द नहीं पढ़े जा सके।[1]

दिन-रात, नित्य-प्रति महीनों देखने आने-जानेवालोंकी भीड़, उपचारके नित्य-नवीन प्रस्ताव एवं उनका परीक्षण, स्वजनोंके आत्मीयता-प्रेरित अनुरोध, उन सबका उनके शरीरपर प्रतिकूल प्रभाव—देहासक्तिहीन पूज्य श्री माईजीकी सार्वकालिक, सार्वत्रिक, सार्वजनीन, प्रभुनिष्ठाको बदल नहीं पाया। वरन् उन्हें उन मोहासक्त स्वजनोंपर यह तरस आता रहा कि क्यों नहीं अपनी मोहासक्त दृष्टि छोड़कर वे उनके भावानुकूल हो जाते! हित-चिन्तन, सबकी कल्याण-

1. जिन महानुभावोंको बंगला लिपिका ज्ञान हो तथा जो सब प्रकारकी हाथकी लिखी बंगला लिपि पढ़नेके अभ्यस्त हों तथा हिन्दीभाषी हों, वे इसको पढ़कर पूरा करनेकी चेष्टा करें। इसकी फोटो कापी 'कल्याण'-सम्पादक, गीताप्रेस, गोरखपुरको लिखनेसे प्राप्त हो सकती है।

भावना, सभीके दृष्टिकोणका आदर, सभीकी इच्छामें अपनी इच्छाका संयोजन, सभीके साथ अपनी सद्भावना, सभीको सत्परामर्श तथा दूसरे पक्षका विपरीत आग्रह देखकर अपने परामर्शके लिए क्षमा-याचना, अपने प्राण-प्रियतमसे सभीको सद्बुद्धिके लिए प्रार्थना—उनकी अदोष-दर्शन-वृत्ति एवं उच्च सदाशयताके परिचायक हैं। सांसारिक जन उनके इन गुणोंका मूल्यांकन अपनी राग-द्वेषात्मक दृष्टिसे कदापि नहीं कर पायेंगे।

पूज्य श्री भाईजीने बहुत वर्षों पूर्व भी, शायद कल्याणका प्रकाशन आरम्भ होनेसे पहले, एक ऐसे ही पदकी रचना की थी जिसमें दुःख, रोग, शोक, अपमान और क्लेशमें प्रभु-दर्शनका उल्लेख था। वह पद इस प्रकार है :

देख दुःखका वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ! छिपा लो तुम मुँह अपना, चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें॥
रोग-शोक, धनहानि, दुःख अपमान घोर, अतिदारुण क्लेश।
सबमें तुम, सब ही है तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेश॥
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब फिर मैं किसलिए डरूँ।
मृत्यु साज सज यदि आओ तो, चरण पकड़ सानंद मरूँ॥
दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःख-वेष धारण कर नाथ।
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें, मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥

यह पद पूज्य श्री भाईजीके व्यापक दृष्टिकोणका ही नहीं, वरन् उनके जीवन-दर्शनका प्रतीक है। प्रत्येक प्राणी-पदार्थ और परिस्थितिमें उन्होंने अपने प्यारेकी लीलाका साक्षात्कार किया। प्रतिकूलता उनके लिए अनुकूलता थी। सदैव सत्-शास्त्र, सत्-विद्या, सद्ज्ञान, सच्चर्या, सद्व्यवहार, विनयशीलता, प्रेम, करुणा, त्याग और सेवामें रत पूज्य श्री भाईजीने मन, वाणी और कर्मसे भक्तजनके लिए एक आदर्श समुपस्थित किया है। उन्होंने अपने आलोचकों, अपेक्षित व्यवहार न करनेवालों, प्रतिकूल बरतनेवालों, उनके सौजन्य और सद्व्यवहारका अनुचित लाभ लेनेवालों और उनके अपने आदर्शको ठेस पहुँचानेवालोंसे भी तथावत् आचरण न कर परम मधुर, आत्मीयतायुक्त व्यवहार रखा और सदैव उनकी कल्याण-कामना की। आखिर क्यों? इसलिए कि वे सबमें, सर्वत्र, सर्वदा अपने इष्टदेवके दर्शन किया करते थे। उनका भाव-जगत् था सर्वथा निष्कलुष, निर्दोष और निर्मल और वे थे, प्रतिक्षण उसीसे अनुप्राणित!

परमभागवत पूज्य श्री भाईजीका यह अभेद-भाव उनकी आजीवन सतत भक्ति-साधनाका परिणाम है। मतवाली मीराने भी तो विषके प्यालेमें अपने प्यारे श्यामसुन्दरके दर्शन किये थे? 'भक्तमाल'में वर्णित अनेक भक्तोंकी गाथा भक्तिकी इस अभेद-दृष्टिको सिद्ध करती है। यह दृष्टि तभी आ सकती है, जब पूज्य भाईजीकी तरह ही अनवरत भक्ति-गङ्गामें अवगाहन किया जाय और जगत्की निन्दा-स्तुतिकी परवाह छोड़कर प्रेम-रस चखा जाय।

●

शिवरात्रिका महत्त्व

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

समस्त भारत, नेपाल और बांगला-देशकी धर्मभावित जनता अत्यन्त श्रद्धा और उल्लासके साथ महाशिवरात्रिका प्रसिद्ध पर्व मानती है। इन देशोंके प्रत्येक शिव-मन्दिरमें शिवरात्रिके दिन बड़ी चहल-पहल रहती है। श्रद्धालु भक्तोंकी भीड़ एकत्र हो कथा, कीर्तन, भजन, गीत और नृत्यके आयोजनों द्वारा उत्सव मनाती है। काशी, उज्जयिनी, तार-केश्वर, दक्षिणेश्वर, मल्लिकार्जुन, रामेश्वरम् आदि सुप्रसिद्ध शैवतीर्थोंमें तो लाखों दर्शनार्थी भक्तजन बिल्वपत्र तथा गङ्गाजल ले 'हर हर महादेव शम्भो !' का महनाद करते हुए कन्धोंपर कांवर लिये दूर-दूरसे दौड़े चले आते हैं। नेपालके पशुपतिनाथ महादेवका मन्दिर भी इस अवसरपर पन्द्रह दिनोंके लिए सबके उन्मुक्त आगमनके लिए खुल जाता है।

यह पर्व महाशिव या परम कल्याणका पर्व है। शिशिर ऋतुकी अवसान-वेलामें समस्त प्रकृति नया कलेवर, नयी शोभा और नयी कान्ति लेकर खिल उठती है। सारा वनस्पति-जगत् अपने जीर्ण-शीर्ण पत्ते गिराकर, शीतकी समस्त जड़ता त्यागकर कमनीय कोमल किस-लयोंसे सुसज्जित हो नवीन उत्साहके साथ सज-धजकर रंगे-बिरंगे फूलोंकी रङ्गीनी लिये सबके समक्ष उपस्थित हो जन-जनके मनको लुभाने लगता है। चारों ओर नवजीवनकी, कल्याणकी चहल-पहल मच जाती है। इसी प्राकृतिक उल्लासके बीच महाशिवरात्रिका महत्त्वपूर्ण पर्व समस्त भारतीयोंके हृदयमें पवित्रता, सत्सङ्कल्प और साहसका मङ्गलमय सन्देश लेकर आ पहुँचता है।

इसकी मूल कथाको लोग भूल चले हैं। पार्वतीजीके पूछनेपर स्वयं भगवान् शिवने अत्यन्त भाव मग्न होकर उन सत्यसङ्कल्प हरिणोंकी कथा उन्हें कह सुनायी, जिन्होंने सत्यकी रक्षाके लिए अपने प्राणोंका मोह छोड़कर सत्य-सङ्कल्पका निर्वाह किया और जिनकी सत्यनिष्ठा देखकर व्याधका हृदय भी द्रवित एवं परिवर्तित हो गया! उसने अपने धनुष-बाण तोड़ फेंके और उस दिनकी वह रात्रि 'महाशिवरात्रि' बन गयी!

किसी पुरातन कल्पकी बात है। एक भील हाथोंमें धनुष बाण लिये नित्य जङ्गलोंमें घूमता हुआ अनेक वन्य जन्तुओंको मार-मारकर अपना और अपने कुटुम्बका पेट पालता था। एक दिन घूमते-घूमते दिन ढलनेको आया, पर उसके हाथ कोई आखेट नहीं लग पाया। अन्तमें दिनभरका थका-मांदा वह व्याध पास ही तालाबके किनारे बेलके पेड़के नीचे दुबककर बैठ

गया और किसी शिकारके आनेकी बाट जोहने लगा। उस वृक्षके नीचे जड़में ही एक बड़ा भारी शिवलिङ्ग था, जिसपर व्याधने बहुत-से बेलके पत्ते यों ही अपने मनसे झकझोर गिराये। इतनेमें ही उसने देखा, एक गर्भवती हरिणी वहाँ पानी पीनेके लिए धीरे-धीरे बढ़ी चली आ रही है। भीलने ज्यों ही धनुषपर बाण चढ़ाया, त्यों ही वह हरिणी बोल उठी : 'व्याध! मैं गाभिन हूँ, दुबली हूँ, मेरे शरीरमें न मांस है, न मज्जा। फिर भी मैं तुम्हें वचन देती हूँ कि प्रातःकालतक मैं बच्चा जनकर उसे अपनी सखीके हाथ सौंपकर यहाँ चली आऊँगी, तब तुम मुझे मार डालना।'

पर व्याधको उसकी बातपर विश्वास नहीं हो रहा था। इसपर उस सत्य-सङ्कल्प हरिणीने प्रतिज्ञा करते हुए कहा : 'देख, व्याध! यदि मैं अपने प्रणके अनुसार कल प्रातःकालतक यहाँ न आ जाऊँ तो मुझे वही पाप लगे, जो वेदोंके पाठ और स्वाध्यायसे वंचित ब्राह्मणको लगता है। जो ब्राह्मण संध्या न करता हो, सत्य न बोलता हो, पवित्रतासे न रहता हो और ऐसी वस्तुएँ बेचता हो, जो ब्राह्मणको नहीं बेचनी चाहिए तथा जो ऐसी वस्तुएँ माँगता हो जो ब्राह्मणको नहीं माँगनी चाहिए, उसको लगनेवाला सारा पाप मुझे लगे। यदि मैं प्रातःकालतक यहाँ न आ जाऊँ तो मुझे वह पाप लगे, जो सायङ्कालके बाद वैदिक संस्कृतका उच्चारण करनेवालेको, अनध्यायके दिन वेद-पाठ करनेवालेको, दीपकसे दीपक जोड़नेवालेको तथा पैरसे पैर रगड़कर धोनेवालेको लगता है। कलः प्रातःकालतक यहाँ न लौटनेपर मुझे वह पाप लगे, जो उस दुष्ट मनुष्यको लगता है, जो कि आश्रयदाता स्वामीको, मित्रको, बालकको, ब्राह्मणको और गुरुको मार डाले, आत्महत्या कर ले, द्वेषके कारण अपनी पत्नीको छोड़ दे, हलमें तीन बैल जोते, एकबार दी हुई कन्याको फिर दूसरेके हाथोंमें देना चाहे, कथामें विघ्न डाले, दूसरोंकी और वेदोंकी निन्दा करे तथा जो घरमें रखैल रखे। यदि मैं कल निश्चित समयपर न लौट आऊँ तो मुझे वह पाप लगे, जो श्राद्धका अन्न खानेके लिए ललचानेवाले चटोर ब्राह्मणको, अपनी-स्त्री और पुत्रोंका पालन न करके अकेले सब कुछ खा-पी जानेवाले मनुष्यको, धूर्तता कर सारे गाँवको धोखा देनेवालेको, सबसे लड़ाई मोल लेनेवालेको तथा जो दुःशील और परस्त्रीगामीको लगता है। यदि मैं प्रातःकालतक न आ जाऊँ तो मुझे वह पाप लगे जो वेद बेचनेवालेको, मृतक अशौचमें जाकर भोजन करनेवालेको, माता-पिताका पोषण न करनेवालेको, मृतकका शय्यादान लेनेवालेको, अवैष्णव, दम्भी, कृतघ्न लम्पट, चुगलखोर, बगुलाभगत, कपट-युद्ध करनेवाले, दासीपति, सूदखोर, माता-पिताके विरोधी, ब्राह्मण-निन्दक, दुष्ट, पतित, पापी, झूठे शास्त्रार्थमें लगे रहनेवाले, पुराणोंका अर्थ न जाननेवाले, दुष्कर्म-परायण, क्रूर, पाखण्डी, मूर्ख और तिल बेचनेवाले ब्राह्मणको लगता है।'

व्याधने जब उस हरिणीकी यह कठोर प्रतिज्ञा सुनी, तो धनुषसे बाण उतार लिया और हरिणीको छोड़ दिया। इतनेमें ही एक दूसरी हरिणी भी उस पहली हरिणीको ढूँढ़ती उधर आ पहुँची। ज्यों ही व्याध उसे मारनेके लिए बाण चढ़ाने लगा, त्यों ही वह भी बोल उठी : 'व्याध! मैं बहुत दुःखी हूँ, दुबली हूँ। मेरी देहमें रुधिर नहीं है। इसलिए तुम मेरे प्राण न लो। फिर भी मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि अपने प्यारे हरिणसे मिलकर प्रातःकाल

अवश्य आ जाऊँगी। यदि मैं लौटकर न आऊँ तो मुझे वह पाप लगे, जो युद्धक्षेत्रसे पीठ दिखाकर भाग खड़े होनेवाले क्षत्रियको, प्राणियोंकी हिंसा करनेवालेको, कथा और धर्मोपदेशमें विघ्न डालनेवालेको और श्रद्धाहीन व्यक्तिको लगता हो।' यह प्रतिज्ञा सुनकर व्याधने उस हरिणीको भी छोड़ दिया।

इतनेमें वह देखता क्या है कि एक बड़ा-सा हृष्ट-पुष्ट हरिण बढ़ा चला आ रहा है। ज्यों ही उसे मारनेके लिए व्याधने बाण चढ़ाया, त्यों ही वह बोल उठा : 'देखो व्याध! अभी जो दो हरिणियाँ गयी हैं, वे मेरी पत्नियाँ हैं। मैं भी इतना भारी हूँ कि मुझे मारकर तुम उठा न ले जा सकोगे। इसलिए मैं शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं अपने यहाँ सबसे मिलकर कल प्रातःकाल तुम्हारे घर स्वयं आ जाऊँगा। तुम मुझे वहीं मारकर खा लेना।' पर व्याधको उसपर विश्वास नहीं हो रहा था। तब उस हरिणने प्रतिज्ञा करते हुए कहा : 'यदि मैं प्रातःकालतक तुम्हारे घर न आ पहुँचूँ, तो मुझे वही पाप लगे जो पतिको धोखा देनेवाली स्त्रीको, स्वामीको धोखा देनेवाले सेवकको, मित्रको धोखा देनेवाले मित्रको, गुरुसे द्रोह करनेवाले शिष्यको, तालाब तोड़ने और भवन गिरानेवाले पापीको, सदा इधर-उधर भटकते रहनेवाले, लेन-देन करनेवाले, संध्या-स्नान न करनेवाले और वेदपाठ न करनेवाले ब्राह्मणको लगता है। मुझे वह पाप लगे जो स्वामीको युद्धमें छोड़कर भाग खड़े होनेवाले क्षत्रियको, ब्राह्मणोंकी और अपनी पत्नीकी निन्दा करनेवाले व्यक्तिको तथा वेद-शास्त्रविरोधीके साथ रहनेवालोंको लगता है। मुझे वह पाप लगे जो उस राजाको लगता है, जिसके देशमें लोग सूर्य, विष्णु, महेश, गणेश और पार्वतीको छोड़कर अन्य देवताओंकी पूजा करते हैं। मुझे वह पाप लगे जो तीनों वर्णोंकी सेवा न करनेवाले शूद्रको तथा ब्राह्मणोंका उपदेश छोड़कर पाखंडमें लगे रहनेवालेको लगता है। मुझे वह पाप लगे जो जप, तप, तीर्थयात्रा, संन्यास और मंत्र-साधन न करनेवालेको तथा तिल, तेल, घी, शहद, नमक, खाँड़, गुड़, लोहा, इत्र, फल, नमक और बहेड़े बेचनेवालेको लगता है। मुझे वह पाप लगे जो मदमत्त होकर मदिरा बेचनेवाले शूद्रको लगता है, जो गौको पैरसे छूनेवाले, सूर्योदयके समय सोनेवाले, अकेले बैठकर मिठाई खानेवाले, माता-पिताका पोषण न करनेवाले, यज्ञ आदिके नामपर पैसा बटोरनेवाले, बेटीके धनसे अपना पेट पालनेवाले, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाले, अतिथियोंकी पूजा न करनेवाले केवल अपना ही अपना पेट भरनेवाले दुराचारी, देवद्रव्यका हरण करनेवाले, स्वामीकी निन्दा करनेवाले, ब्रह्महत्या करनेवाले, गुरुकी निन्दा करनेवाले, स्वर और व्यंजनसे हीन वेद पढ़नेवाले, सूर्य-चन्द्र-ग्रहणके समय कुरुक्षेत्रमें दान लेनेवाले, इधर-उधर भटकते हुए वेदपाठ करनेवाले अथवा अपने धनहीन और रोगी पतिका सत्कार न करनेवाली रूपगर्विता नारीको लगता है। इतना ही नहीं, यदि मैं कल प्रातःकाल तुम्हारे पास न आऊँ तो हमारा सारा सत्य व्यर्थ हो जाय।'

व्याधने बाण उतार धरा और हरिण चला गया। इतनेमें अपने बच्चोंके साथ एक और हरिणी वहाँ आ पहुँची। जब व्याध उसे मारनेको तत्पर हुआ तब उसने कहा : 'बच्चोंसे युक्त हरिणीको मारना धर्मशास्त्रमें पाप लिखा है। इसलिए मैं बच्चोंको छोड़कर

अभी आ ही जाती हूँ। यदि मैं लौटकर न आऊँ तो मुझे वही पाप लगे जो अपने पतिको छोड़कर दूसरे पुरुषमें आसक्त रहनेवाली कुलटा स्त्रीको लगता है।' यह सुनकर व्याधने उसे भी छोड़ दिया और चुपचाप उस शिवलिंगपर बहुत-से बेलके पत्ते झकझोर अनजाने गिराता हुआ घर लौट आया।

घरपर उसके बच्चे भूखसे छटपटा रहे थे। व्याधने पहुँचते ही उन्हें हरिणोंकी सारी कथा कह सुनायी। इतनेमें सवेरा हो चला तो वह देखता क्या है कि हरिण और तीनों हरिणियाँ अपने बच्चोंको साथ लिये बढ़ी चली आ रही हैं और आकर सभी एक दूसरेसे पहले प्राण देनेको तैयार हैं। यह देखकर तो व्याध द्रवित हो उठा, लाजसे पानी-पानी हो गया। उसने अपने धनुष बाण तोड़कर दूर उठा फेंके और उसे पश्चात्ताप होने लगा। 'मैं मनुष्य होकर भी कितना पापी हूँ और ये पशु होकर भी कितने सत्य-संकल्प हैं, जो अपने वचनका पालन करनेके लिए प्राण देनेको यहाँ चले आये हैं। इस पुण्यसे व्याधकी भी मुक्ति हो गयी और सब मृग भी मुक्त होकर मृगशिरा नक्षत्रके रूपमें आकाशमें जाकर स्थिर हो गये। जैसे उस व्याधने अनजानमें फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशीकी रातको जागरण-उपवास किया, बिल्वपत्र चढ़ाकर शिवकी पूजा की, भले ही अनजानमें ही की, वैसे ही शिवरात्रिके दिन जो मनुष्य जागरण, उपवास और शिवपूजन करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

इस पर्वका वास्तविक तत्त्व यही है कि यह पर्व सत्यनिष्ठा और सत्संकल्पका स्मरण दिलानेवाला दिन है। इस पर्वपर सबको यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम अपने जीवनमें किसीको कष्ट न देंगे, अपने धर्म और कर्तव्यका पालन करेंगे, हरिणोंने जिन पापोंसे बचनेके लिए संकल्प किया था, उन पापोंमें लिप्त न होंगे और जो भी संकल्प करेंगे, उसे प्राण देकर पूरा करेंगे। ऐसा संकल्प करनेवालेकी भगवान् विश्वनाथ निश्चय ही सहायता करेंगे; यही शिवरात्रिका वास्तविक महत्त्व है।

●

शिवको नमस्कार

तव रूपं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर।
यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः॥

महेश्वर! आप कैसे हैं, आपका रूप कैसा है? यह मैं नहीं जानता। महादेव! आप जैसे हैं, उसी रूपमें आपको बार-बार नमस्कार है।

●

होली है

आ० सी० च०

★

लीजिये होली आ गयी है। लोग अमीसे अबीर और गुलालकी झोलियाँ सम्भालने लगे हैं। इस मादकतामें आमकी बौर गमककर सारे वायुमण्डलको मादक बना रही है। सारी सृष्टि झूम उठी है। क्या सचमुच होली आ गयी है? हाँ, सचमुच होली आ गयी है।

घर-घरका कूड़ा बटोरकर, मुहल्ले-टोलेसे काठ-लक्कड़ एकत्र कर हम लोग होली जलानेके लिए तैयार खड़े हैं। जान पड़ता है कि हम सारी सृष्टिको निर्मल बनानेका बीड़ा उठाये हुए हैं। अपनी सारी मलिनता सर्वपावन पावकको भेट चढ़ाने जा रहे हैं। किन्तु तनिक भी अपने भीतर नहीं देख रहे हैं। अभी तो मनका कूड़ा ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष ज्यों-के-त्यों जमे हुए हैं। इस कूड़ेको जबतक निकाल बाहर नहीं किया, तबतक शुद्धि ही क्या हुई? भीतरका भवन तो स्वच्छ ही नहीं हुआ, फिर ओसारेमें झाड़ू दे ही दी तो क्या लाभ? ऐसा अवसर फिर हाथ कब आयेगा? आओ, सब लोग जुटे हैं, होलीकी ज्वालामें सब भेदभाव मिटाकर, मनकी सम्पूर्ण कुवासनाएँ और मलिनता निकालकर अग्निमें झोक दें। फिर एक दूसरेके गले मिलकर सब पुराना द्वेष मिटाकर एक नये प्रेमराज्यकी सृष्टि करें, जिसमें न द्वेष हो, न कलह हो, न अशान्ति, न क्रान्ति हो। जहाँ भाई भाईका, पुत्र पिताका, शिष्य गुरुका गला काटनेको तैयार न हो, वरन् जिसमें सेवा, परोपकार सद्भाव और आत्मगौरवका बोलबाला हो। कुछ कठिन नहीं है, केवल हृदयकी उदारता चाहिए, सच्ची लगन चाहिए। स्मरण रखिये, आजके दिन इसी होलीकी आँचमें प्रह्लादके सत्यकी परीक्षा हुई थी और आजके ही दिन यह ध्रुव सत्य और भी दृढ़ हो गया कि साँचको आँच कहाँ? प्रह्लाद उस अग्निपरीक्षामें सफल हो गये और उनकी बुआ असत्यका पल्ला थामे हुए भस्म हो गयी। यह होली आपके असत्यको जलानेके लिए ही आती है। फिर संकोच किसलिए?

अच्छा आप रंगका लोटा लिये हुए, पिचकारी लिये और अबीरकी झोली लिये चुपचाप क्यों खड़े हैं? डालिये रंग, चलाइये पिचकारी, मलिये अबीर! आज सब रंगमें रंगे हैं। लाल, पीले, नीले रंगमें रंगे हम नये उत्साहको आमन्त्रित करते हैं। आज सृष्टिमें हम नया रंग लाते हैं। वृद्धोंमें युवक-सा वेग आ जाता है। ढुण्ढा राक्षसीको मारकर, जलाकर

सारा विश्व मस्त है। राक्षसीका अन्त हो गया, अब आपके बालकोंके लिए कोई चिन्ता नहीं, कोई भय नहीं। पर भारतके घर-घरमें फूटरूपी राक्षसी बैठी है। चलो, सब मिलकर उसे होलीकी ज्वालामें झोंक दें। तभी हमारा रंग खेलना शोभा देगा, नहीं तो सब व्यर्थ !

टेसूके फूल तुम्हारे लिए पीला रंग देनेको व्याकुल हुए पड़े हैं। उठाओ, उबालो और चोखा बसन्ती रंग तैयार करो। इस रंगमें जानते हो क्या खूबी है? कई महीनेतक तुम्हारे पास कोई रोग नहीं फटकेगा, यदि एकबार इस रंगसे स्नान कर लोगे, फिर कीचड़ क्यों उछालते हो? सभ्य आर्य ऋषियोंकी सन्तानको भला ये बातें क्या शोभा देती हैं? इस पुण्यपर्वपर प्रेमसे सब हृदयसे लग जाओ, रंग मलो। अबीर उड़ाओ, पर यह गाली तो भले आदमियोंको शोभा नहीं देती। तुम कहोगे कि होलीके दिन तो गाली देनी ही चाहिए। भला यह भी कोई दलील है? क्या होली इसलिए आती है कि हम अपने सम्पूर्ण गुणोंको तिलांजलि देकर एक दिन पशु, मूर्ख, अज्ञानी बन जायँ? आज ही तो सभ्यता दिखानेका अवसर है। बाहर शुद्धि हो गयी है, वाणी और मन भी पवित्र हो जाय, फिर क्या कहना है? भगवान् कृष्ण भी पिचकारी लिये तुम्हारी होलीमें सम्मिलित होंगे। सुन रहे हो, कोयल कूक रही है। कितनी मीठी इसकी शब्दावली है। फिर आपके ही मुखसे क्यों अपशब्द निकलें? आमकी बौरोंपर कितनी मधुर भिनभिनाहट सुनायी पड़ रही है। भौंरे भी तो मतवाले हैं, पर उनकी वाणीमें कितनी कोमलता है! आप ही क्यों कठोर वाणीका प्रयोग कर रहे हैं? आप भी आज मन, वचन और कर्मसे व्यवहार करें, तभी हमारी होली होली होगी।

स्वतन्त्र भारतमें होली नया उत्साह लेकर आयी है। आलस्य छोड़कर लोग घरसे निकल पड़े हैं। यह होली हमारी अग्नि-परीक्षा है कि जिस उत्साहके साथ हम काठ और लकड़ी बटोरकर जला रहे हैं, उसी उत्साहके साथ अपनी वासनाओं और स्वार्थोंको भस्म करके भारतीय स्वतन्त्रताकी रक्षा करनेमें पूर्ण योग दें। तभी हमारी होली सफल हो सकती है।

आजकी आवश्यकता

आज हमारे देशको जिस चीजकी आवश्यकता है, वह है लोहेकी मांस-पेशियाँ और फौलादके स्नायु—प्रचण्ड इच्छा शक्ति, जिसका अवरोध दुनियाकी कोई ताकत न कर सके, जो जगत्के गुप्त तथ्यों और रहस्योंको भेद सके और जिस उपायसे भी हो अपने उद्देश्यकी पूर्ति करनेमें समर्थ हो, फिर चाहे समुद्र-तलमें ही क्यों न जाना पड़े, साक्षात् मृत्युका ही सामना क्यों न करना पड़े।

—स्वामी विवेकानन्द

गोस्वामी तुलसीदासजीका वसन्त-वर्णन

★

प्रगटेसि तुरत रुचिर रितुराजा। कुसुमित नव तरु राजि बिराजा ॥
बन उपबन बाटिका तडागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा ॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा ॥
जागइ मनोभव मुएहुँ मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगन्ध सुमन्द मारुत मदन अनल सखा सही ॥
बिकसे सरन्हि बहु कञ्ज गुञ्जत पुञ्ज मञ्जुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गात नाचहिं अपछरा ॥

× × ×

भूप बागु वर देखेउ जाई। जहँ वसन्त रितु रही लोभाई ॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन-बरन वर बेलि बिताना ॥
नवपल्लव फल सुमन सुहाये। निज सम्पति सुर रूख लगाये ॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहँग नटत कल मोरा ॥
मध्य बाग तरु सोह सुहावा। मनि सोपान बिचित्र बनावा ॥
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा। जल खग कूजत गुञ्जत भृंगा ॥
बागु तडागु बिलोकि प्रभु, हरखे बन्धु समेत।
परम रम्य आराम यह, जो रामहिं सुख देत ॥

× × ×

देखहु तात वसन्त सुहावा। प्रिया हीन मोहिं भय उपजावा ॥
बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल ॥
बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी ॥
कदलि ताल वर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना ॥
कहुँ-कहुँ सुन्दर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग-बिलग होइ छाये ॥
कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते ॥
मोर चकोर कीर वर बाजी। पारावत मराल सब ताजी ॥
तित्तिर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा ॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बन्दी गुनगन बरना ॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिध बयारि बसीठी आई ॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हें ॥

•

कहानी

बंधक

श्री कृष्णगोपालजी माथुर

★

महिलाओंका जमघट जुटा हुआ था। भक्तिमती गायिका मुद्राने कहा : "भगवत्प्रेममें पगी वहनो ! सुनो, लीलाधारी, गिरिधारी, बनवारी लला एक समय वृषभानु-ललीकी गलीमें गये। मैं उसी समयका एक भजन तुम्हें सुना रही हूँ।"

यह कहकर मुद्राने भजन सुनानेको हारमोनियमपर ज्यों ही अंगुलियाँ रखीं, त्यों ही सेठानी मुधाकी ज्येष्ठकन्या मुग्धाने आकर कहा : "माँ, पिताजी जल्द आपको बुला रहे हैं।"

"आप तो किसी भगवत्-संकीर्तनमें कभी जाते नहीं। मैं अभी-अभी यहाँ आयी हूँ दो घड़ी भगवत्कीर्तन सुननेको, तो पीछे लगे ही बुलावा भेज दिया।"—मनमें यह विचारकर सेठानी प्रकटमें बोली : "बैठ जा, पूरा भजन सुनकर अभी चलती हूँ।'

सेठानीकी यह बात पूरी भी नहीं होने पायी थी कि उसकी छोटी पुत्री सुधाने आकर घबराते हुए कहा : "जल्दी चलो माँ, चोरी हो गयी है।" चोरीका शब्द सुनकर सेठानी मन-ही-मन हँसी—'जल्दी बुलानेका यह अच्छा बहाना कहलाया है।" फिर बोली : "हो जाने दे चोरी, भजन पूरा सुनकर चलेंगे।"

मुधाके पति सेठ सुमन जैसा नगरमें कोई दूसरा धनवान् नहीं था। उसने अपने पूर्वजों द्वारा संगृहीत धनमें काफी वृद्धि की थी—गहने बंधक रखकर ऊँचे सूदपर रुपया ऋण देनेके सरल धन्धेसे। सेठानीके आते ही वह एकाएक रो पड़ा। मुधाको चोरीकी बात सही होनेका सन्देह हुआ। उसके द्वारा ढाढस बँधानेपर सुमन सिसकियाँ रोककर बोला : "प्रिये, अनर्थ हो गया। मैं सिनेमा देखने चला गया था। पीछेसे कोई चोर बंधक और अपने सब गहने चुरा ले गया। अब क्या होगा, यही तो रोना है।"

मुधाने धैर्यसे काम लिया, बोली : "यह समय रोनेका नहीं, भगवत्-स्मरण करनेका है। भगवान्के प्रत्येक विधानमें सब प्रकारसे मंगल ही मंगल है। उसकी उपासनासे बड़े-बड़े संकटोंका क्षणभरमें नाश हो जाता है।"

थोड़ी देरमें सेठको तन्द्रा आ गयी। स्वप्न देखा : "मैं लोभवश बहुत अधिक ब्याजसे ग़रीबोंको ऋण देकर मनमें प्रसन्न होता था। पड़ोसकी संकटग्रस्त वृद्धा कमलाने १००) रु०

के जेवरपर ऋण माँगते हुए बहुत अनुनय-विनय कर कहा था : "मैं अत्यन्त गरीब हूँ, सूद कम लो सेठ साहब।" मैंने गर्जकर कहा : "माँ जी ! जिसके बेटा होता है, उसके बहू आती है, और उससे बढ़ता है वंश। इसी तरह सूदसे धन बढ़ता है। सूदमें एक पैसेकी भी कमी नहीं होगी, तुम्हारी हजार खुशी हो तो कर्ज लो।" विवश होकर बेचारीने सूदकी ऊँची दर स्वीकारी थी। उसका रुआसा मुख अब भी मेरी आँखोंके सामने ज्यों-का-त्यों फिर रहा है। मैं सभी ऋणियोंके प्रति ऐसा ही रूखा व्यवहार कर खुश होता था। कहा है :

किसीको हमकिराँ[1] अपना बनाना हो अगर "साबिर"।
तो अपनी जीभ को शीरीं[2] बनाकर बोलिये॥

पर मेरे मुखसे तो मानो तीखे अग्निबाण निकलते थे। फिर कैसे कोई मेरा हितू बनता ? कहते हैं, 'तलवारका घाव भर जाता है, पर वाणीके तीखे बोल सदा हृदयमें चुभते ही रहते हैं। अब लोग सच्ची बात न मानकर यही सोचेंगे कि 'रकमको कहीं छिपा सेठने दीवाला निकाल-कर बेईमानी की है।' हे अशरण-शरण भगवान् ! आप ही मेरी आबरू बचानेवाले हैं।"

इधर सेठ सुमनका स्वप्नमें यह पश्चात्ताप चल रहा था, उधर सेठानी सुधा श्रीभगवान्के सम्मुख घुटने टेक कातरभावसे रो-रोकर हाथ जोड़ उनसे प्रार्थना कर रही थी : 'दयामय भगवन् ! इस विपत्तिसे हमारी रक्षा करो। हमें ऐसी सद्बुद्धि, साहस, त्यागमय बल दो कि आपकी दी हुई शेष सम्पत्तिसे हम बन्धक रखनेवालोंकी रकम बड़ी ईमानदारी, सचाई और सद्व्यवहार द्वारा चुका दें। हमारी साहूकारीमें बट्टा न लगे। मैंने शरीरपर जितने जेवर पहन रखे हैं, उनको उतारनेमें मेरे हाथ तनिक भी न रुकें, मन मैला न हो, हृदय में क्षोभ न उपजे और इनके द्वारा सबका भुगतान हो जाय। मेरे पतिको भी इस कार्य-विधिमें अनुकूल बना दो महाराज ! यह सब आपका ही है। आप ही चाहें तो क्षणभरमें सबकी पूर्ति कर देंगे।'

इतनेमें ही सेठ सुमनकी आँखें खुलीं तो सामने पत्नीका हँसमुख चेहरा देख उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। 'तुम कैसी पत्थरकी बनी नारी हो ? शायद मेरी बात झूठी समझ रही हो ? अरी, उन बड़ी-बड़ी कोठियोंको तो देखो, सब खाली पड़ी हैं। पुलिसमें कहते ही बात फैल जायगी। बन्धकवाले आ जायँगे। उनसे किस भाँति पीछा छुड़ाया जाय ? करना क्या है ?'

'स्वामी ! हमारे जीवनके जीवन यदुकुल-कमल-दिवाकर, गोपाल-गोपीजन-वल्लभ, राधावर श्रीकृष्ण ही हैं। उन्हींको माता-पिता, बन्धु-बान्धव, रक्षक-पालक, विपत्ति विदारक मानकर अगाध श्रद्धा और उत्कट भक्तिके साथ उन्हींपर दृढ़ विश्वास रखो, आपकी प्रतिष्ठाकी कमी हानि नहीं होगी !' इस प्रकार समझाकर सुधाने पतिको शान्त किया।

(२)

दोनों पति-पत्नी इस दुर्घटनाको अधिक दिनोंतक छिपाकर नहीं रख सके। एक दिन सुमनके परम मित्र सुदामाने आकर दोनोंको उदास देख कारण पूछा। सुमनने चोरीका हाल

१. मित्र, साथी। २. मीठी।

सुनाते हुए वंधकोंके गहने लौटाने और युवती पुत्री मुग्धाके विवाह-व्ययकी गहरी चिन्ता बता दी। सुदामा मित्रके सुख-दुःखमें समान रूपसे पूरा सहयोग देनेवाले सुप्रसिद्ध कथावाचक थे। मित्रकी इस विपत्तिको मिटानेके हेतु गद्‌गद कण्ठ हो भेंटकी सारी आय सहर्ष देनेको तैयार हो गये। सुमन तो मित्रका त्यागमय उदार व्यवहार देखकर अश्रुपूरित नेत्रोंसे अस्वीकार करने लगा। कई दिनों तक आग्रह-अस्वीकार चलता रहा, पर अन्तमें धर्मपरायण सेठ-सेठानीने भगवत्-भेंटकी आय लेना किसी दशामें भी स्वीकार नहीं किया। बोले।

'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी। आपत्काल परखिये चारी॥

इसका मुझे साक्षात् अनुभव हो गया है।"

सुदामा बोले : "भाई जी, मेरे एक सत्परामर्शको बुरा मत मानना। जो कुछ बचा हो, उससे बन्धकोंका चुकारा कर देनेमें ही हित है।"

"धन गया और शेष धन भी दे हूँ, यह कैसा सत्परामर्श ?"—सेठ बोला। मित्रकी लोभ वृत्ति देखकर सुदामाने कहा : "जानते हो, तृष्णा कैसी बुरी बला होती है? "इसका अन्त नहीं है। सन्तोष ही परम सुख है। इसलिए इस संसारमें पण्डितजन सन्तोषको ही परम धन मानते हैं।[1] लो, इस महामन्त्रका पाठ नित्य विश्वासपूर्वक किया करो :

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

इसका पाठ करनेसे निश्चय ही सारी आपत्तियोंका निवारण होकर सम्पत्तियोंका पुनरागमन होता है, और सब प्रकारके अभीष्टोंकी सिद्धि होती है।"

सुमनने अन्तःकरणकी वेचैनी मिटानेका उपाय पूछा। सुदामा तत्काल ही स्मरण कर बोल उठे : "श्रीमद्भागवतके इस श्लोकको निरन्तर हृदयकी कातर-वाणीसे गुनगुनाते रहो।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥[2]

इससे आपके दुःख, चिन्ता, निराशा, अवसाद, विकलताके काले बादल तत्काल छिन्न-भिन्न होकर मनमें प्रकाशकी किरण जगमगाती दिखाई देगी। बाहर-भीतर आप भगवान् श्रीकृष्णकी गोदमें अपने आपको सर्वथा सुरक्षित पायेंगे। भक्तिका यह बड़ा ही सरल सोपान है।"

सेठ सुमनने इस प्रयोगका तत्काल फल देखकर इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए मित्रका विशेष उपकार माना।

---

१. अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात्सन्तोषमेवेह धन पश्यन्ति पण्डिताः॥ (महाभारत शान्तिपर्व, ३३०.२१)

२. जैसे भूखे बछड़े अपनी माताका दूध पीनेके लिए आतुर रहते हैं, जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी पतिसे मिलनेके लिए उत्कंठित रहती है, वैसे ही हे कमलनयन! आपके दर्शनोंके लिए मेरा हृदय छटपटा रहा है।

(३)

मुग्धा अपने परिवारमें सबकी बड़ी लाड़ली थी। छोटोंसे वह बहुत ही प्रेम करती हुई उनसे घरका कोई काम न करवाकर स्वयम् करती। अध्ययनशील थी वह। एकबार "सरिता" नामकी कविताकी ये पंक्तियाँ पढ़कर वह झूम उठी :"

मैं भी तुम-सी हो मिलनातुर, चल पड़ूँ लगूँ प्रियतमके उर।
फिर मेरापन सब बह जाये, प्रियतम ही प्रियतम रह जाये॥

इतनेमें ही सखी मुदिताके द्वारा चोरी हो जानेका हाल जानकर मुग्धा भारी चिन्तामें पड़ गयी। थोड़े ही क्षणपूर्व जिन पंक्तियोंको पढ़कर वह यौवनके उन्मेषमें मदोन्मत्त हो झूम रही थी, वे ही उसे विष-वेलिसे सदृश जान पड़ने लगीं। बोली : "बहन मुदिता ! संसारके ऐसे सुख-दु:ख मिटानेके हेतु मैं तो आजसे ही आजन्म कुँवारी रहकर बड़ोंकी सेवा और भगवत्-उपासनामें सारा जीवन बितानेका अपना दृढ़ निश्चय माता-पितासे कहे देती हूँ, ताकि मेरे विवाहकी चिन्ता वे छोड़ दें। मैंने तो पिताजीसे कहा था कि 'ब्याजकी आयसे गोहत्याबन्दी-आन्दोलन एवम् सूखा-पीड़ितोंकी सहायतामें धन देकर पुण्यके भागी होइये। पर जैसा कि कहा है कि 'विलम्ब करनेसे शुभकर्मको काल भक्षण कर जाता है', वही हुआ।

अब तू ही बता :

हरि-सा हीरा छाँड़िके, करै आनकी आस।
ते नर यमपुर जायँगे, सत भाखै रैदास॥

क्यों न मैं हरिकी ही शरणमें जाऊँ ?"

सखीका शुभ दृढ़-निश्चय सुनकर मुदिता बहुत प्रसन्न हुई और बोली : 'बहन! यह सब करते हुए भी हमें घरके पूज्य वृद्धजनोंकी सेवा भी तो तन-मनसे करते रहना अत्यावश्यक है। क्योंकि वे भी भगवत्स्वरूप ही तो हैं' :

गुलशनमें शक्ले गुलबने-बू बनके गुलमें आये।
जब सबमें तुमही तुम हो, तो मैं बूको क्या कहूँ ?

(अंजुमने वहशत)

इस दृढ़ निश्चयके अनुसार दोनों सहेलियोंका क्रम निरन्तर चलता रहा।

(४)

वह बेसुध पागल-सी दौड़ी चली जा रही है। शरीरके वस्त्र किधर खिसक रहे हैं, लज्जाका भान नहीं। किन्तु मनमें—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

इस मंत्रको रट बराबर चल रही है। मेरे पतिको जेल न हो, वे मेरे साथ ही छूटकर आ जायँ।'

'कौन है यह, माता या पत्नी ? जैसे गोमाता दूधसे भरे मारी थनोंका बोझ लिये अपने बछड़ेको दूध पिलाने-हेतु रम्भाती दौड़ी चली आती है, वैसे ही इस नारीको हम देख रहे हैं।'

दर्शकोंकी भीड़से एक वृद्ध सज्जन बोले : 'अजी, यह माँ नहीं है, पतिव्रता स्त्री है। भगवत्कीर्तन सुनानेको घरका आवश्यक काम छोड़ जगह-जगह जाती और श्रोताओंको भक्ति-रसमें सराबोर कर देती है। इसका कीर्तन-कला-निधि पति शीतल जब मस्त होकर नाचता हुआ हरिकीर्तन करता है, हजारों लोगोंकी भीड़ भी उसके साथ हरिकीर्तन करते-करते लोटपोट हो जाती है। किन्तु विधिकी विड़म्बना तो देखो कि उसने सुमन सेठके यहाँ चोरी की। उसे न्यायालयसे दण्ड मिला है। यह अपने पतिको ही छुड़ाने जा रही है।'

उधर, शीतल भवभयहारी, सङ्कटटारी भगवान्‌की मन-ही-मन कातरभावसे वन्दना कर रहा था :

तीन लोकके पति प्रभू, परमातम परमेस।
मन-वच-तन तैं नमत हूँ, मेटौ कठिन कलेस॥

'तुम तो बड़े भगवद्‌भक्त कीर्तनकार हो। तुम्हें यह चौर्य-कर्म करनेकी कैसे सूझी ?'

न्यायाधीशके इस प्रश्नके उत्तरमें शीतल आँसू टपकाते हुए बोला : 'यही तो आश्चर्य हो रहा है मुझे। जब मैं खञ्जरी और घूँघरूपर नृत्य करते हुए भक्ति-रसमें निमग्न हो जाता, तब भी मेरे मनके एक सूक्ष्म-कक्षमें बैठा कोई प्रबल शैतान, महाराक्षस मुझे यह दुष्कर्म करनेको निरन्तर उकसाता रहता। मैं उसे बार-बार धिक्कारता; पर उसने मुझे ऐसा वशमें कर लिया कि मेरे ज्ञान, विवेक, सद्विचार सभी रफू-चक्कर हो गये और मैं एक दिन अवसर पाकर यह दुष्कर्म कर ही बैठा। अब वह शैतान शान्त है। अब मेरा जागा हुआ विवेक मुझे हजारों बार धिक्कार रहा है। मैं अत्यन्त दुखी हूँ।

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जगमें होत हँसाय॥

अब कृपया आप मुझे कड़ेसे कड़ा दण्ड दीजिये। मैं उसे भोगते हुए मनमें बड़ा हर्ष मानूँगा। और यह जेवरोंकी पोटली, जो मुझे विष-मंजूषाके समान दिखायी दे रही है, सेठजीको लौटा दीजिये, तभी मुझे कुछ शान्ति मिलेगी।'

'इनकी जगह मुझे कारागारमें रखिये।'—रोती-चिल्लाती, बिलपती-तड़पती मुद्रा कह रही थी। दर्शकोंकी गैलरियाँ खचाखच भरी थीं। न्यायाधीशने नारीका सम्मान करते हुए दण्डमें कुछ कमी कर, कई प्रकारसे समझाते हुए मुद्राको उसके घर बड़े आदरके साथ पहुँचाया।

शीतल जब दण्ड भोगकर आया, तो सीधा सेठ सुमनके भवनपर पहुँचा और रोते-कलपते क्षमा-प्रार्थना करते हुए उनके चरणोंमें गिर पड़ा।

सेठ-सेठानी उसे उठाते हुए बोले : "यह तो हमारी ही किसी बुरी करनीका फल था। इसमें आपका तनिक भी दोष नहीं। हमने तो यह घटना प्रकट भी नहीं की थी, किन्तु पुलिसने न जाने कैसे सुराग लगा लिया। हम स्वयं पश्चात्ताप कर रहे हैं। आपके प्रति कोई दुर्भावना हमारे मनमें नहीं है। आप अपने भगवत्-कीर्तनके महत्-कार्यमें हर्षपूर्वक लग जायें। हम भी उसमें सम्मिलित होकर अपार लाभ उठायेंगे। यही हमारी विनती है।"

इस सान्त्वनासे शीतलका मन प्रसन्न तो हुआ, किन्तु पश्चात्तापकी चिनगारी समूल नष्ट नहीं हो पायी। कुछ दिनों पश्चात् वह सुमन सेठकी पेढ़ीपर जाकर कहने लगा : "मैं आपकी प्रतिदिन दो घण्टे निःस्वार्थभावसे कोई सेवा करना चाहता हूँ। कृपया मुझसे सेवा लें।" यह सुनते ही सेठ-दम्पतीने शीतलके पांव पकड़ लिये। बोले : "यह कदापि नहीं हो सकता। आप तो हमारे पूज्य हैं।" किन्तु प्रतिदिन आग्रह करते रहनेसे सेठने एक धर्मार्थ सेवा बतायी : "तो कृपया आप मेरे आटेकी रामनामकी गोलियाँ बनाकर क्षिप्रानदीमें मछलियोंको प्रतिदिन नियत समयपर भगवत्प्रीत्यर्थ डाला करें। यहाँ मछलियोंको पकड़नेकी मनाही है। मेरी सुयोग्य पुत्री मुग्धा, सुधा और उनकी सखी मुदिता भी आपको इस कार्यमें सहयोग देंगी।' कार्य प्रारम्भ हो गया।

एक दिन सेठ सुमनने भगवान्से प्रार्थना की : "हे प्रभो! आपने सन्मति दे बन्धकोंका भुगतान कराकर इस दासकी प्रतिष्ठा बचायी और घरमें सम्पत्तिका पुनरागमन किया। दयानिधे, आज मैं यह प्रण करता हूँ कि अब व्याज नाममात्रका लिया करूँगा और दीन जनोंको बिना ब्याज अथवा बन्धकके रुपया देकर उनकी कठिनाई दूर किया करूँगा। शरणागत-वत्सल, आप इस दासके प्रणको अवश्य निभायें। आपकी अहैतुकी कृपाका पार नहीं। जय हो प्रभो आपकी—

परब्रह्म परमात्मवर चिदानन्दघनरूप।
सत्य अनादि अनन्त सत जय जय ब्रह्म अनूप॥

सुधा भी पतिके साथ मनको एकाग्रकर श्रीहरिका ध्यान लगा प्रार्थना करनेमें लीन हो गयी। उसने प्रभुसे इतना और माँगा कि हमारे द्वारा आपके दिये हुए धनकी पाई पाई सदा धार्मिक-कार्यमें व्यय होती रहे। दोनोंका आजन्म यही क्रम जारी रहा। भजनके प्रभावसे वे सभीके श्रद्धाभाजन एवम् आदर्श दम्पती बन गये। तपस्विनीके समान पुत्री मुग्धाके उपदेशोंसे अनेक महिलाओं, युवतियों एवम् बालिकाओंका आशातीत सुधार हुआ। इस कार्यमें सुधा और मुदिताने भी पूरा योग दिया।

●

लक्ष्मीकी इच्छा

'मैं उसीके गलेमें वरमाला डालूँगी, जिसे मेरी चाह न होगी।'

आचार्यचरण महाप्रभु श्री विट्ठलेश

श्री प्रेमकुमार अग्रवाल

★

सोलहवीं शताब्दी धार्मिक-क्रांतिका युग कहा गया है। तत्कालीन कुशासनने सामाजिक स्थितिको दयनीय बना दिया था। विधर्मी आक्रमणोंके कारण हिन्दू-संस्कृति एवं धर्म घोर संकटमें थे। रूढ़िवाद और अन्धविश्वासने वैदिक धर्मके प्रति मानवको आस्था समाप्तप्राय कर दी थी। निराश्रित जनसमुदाय अन्धकारमें भटक रहा था। उसे चाह थी एक उदार और दृढ़ पथप्रदर्शककी, जनसाधारणका कल्याण करनेवाले नेताको। समाजकी डाँवाडोल स्थिति देख तत्कालीन सन्तों एवं आचार्योंने भक्तिकी नवीन धारा प्रवाहित कर समाजको अमर चेतना प्रदान की। उन्हीं आचार्योंमें गोस्वामी वल्लभाचार्य थे, जिनका प्रादुर्भाव दक्षिण भारतमें हुआ था। उन्होंने शुद्धाद्वैत अथवा पुष्टिमार्ग-सम्प्रदायको जन्म दिया। इसे मूर्तरूप देनेवाले, उनके पुत्र विट्ठलनाथजी थे।

जनश्रुति है कि भारत-परिभ्रमणके अवसरपर एकबार वल्लभाचार्यजी पंढरपुर पधारे। वहाँ विराजमान ठाकुर विट्ठलनाथजीने उनसे कहा कि मेरी इच्छा है: 'तेरे यहाँ पुत्ररूपमें जन्म लूँ। अत: काशी जाकर तू अमुक ब्राह्मणकुमारीसे विवाहकर गृहस्थ-धर्म अंगीकार कर।' आचार्यजीने वैसा ही किया और कालान्तरमें उनकी स्त्री गर्भवती हुई।

श्रीविट्ठलेशका प्राकट्य आजसे ४५७ वर्ष पूर्व संवत् १५७२ वि० में पौष कृष्ण नवमीको काशीके निकटवर्ती क्षेत्र चरणाद्रि (चुनार) में हुआ था। जगन्नाथपुरी तीर्थ जाते समय वल्लभाचार्यजी सपत्नीक यहीं रुके थे, जहाँ वर्तमान आचार्य-कूप है। इसी स्थलपर उनकी स्त्रीने पुत्र-प्रसव किया। यात्रामें नवजात शिशुको लेकर चलना कष्टप्रद जान माता-पिताने उसे वहीं छोड़ दिया और आगे बढ़े। महीनों बाद लौटनेपर वह शिशु उसी स्थानपर एक व्यक्तिकी गोदमें सुरक्षित मिला। माता-पिताको शिशु दे वह अदृश्य हो गया। शिशुको जीवित पानेका चमत्कार देख वल्लभ-शिष्योंने उस स्थलका नाम 'आचार्य-कूप' रखा, जो कालान्तरमें 'आश्चर्य-कूप' नामसे विख्यात हो गया। स्थान एवं कूपके सम्मानमें शिष्योंने वहाँ भव्य मन्दिर निर्माण करा उसमें उसी बालककी गद्दी स्थापित की। ठाकुर विट्ठलनाथजीके पुत्ररूपमें अवतरित होनेके कारण ही बालकका नामकरण गोस्वामी विट्ठलनाथ हुआ।

पुत्र विट्ठलसहित वल्लभाचार्य अपने निवासस्थल अड़ैल (प्रयाग जनपद) आये और वहीं उनका संस्कार किया। जब गोस्वामी विट्ठलनाथ पन्द्रह वर्षके थे; तभी पिता परलोकगामी

हो गये। फिर भी उन्होंने वेद-वेदांगोंका सांगोपांग अध्ययन कर मनमें सम्प्रदाय-साहित्यक अनुशीलन किया। रहस्यपूर्ण सिद्धान्तोंके समझनेमें उनको दामोदरदासजी तथा पद्मनाभजीसे पर्याप्त सहायता मिली।

पिताकी भाँति श्रीविट्ठल भी गृहस्थ थे। उन्होंने दो विवाह किये। प्रथम पत्नी रुक्मिणीसे छः पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। 'भावसिन्धुकी वार्ता'के अनुसार गढ़ाकी रानी दुर्गावतीके अधिक आग्रहपर उन्होंने दूसरा विवाह पद्मावतीसे किया, जिसके एकमात्र पुत्र घनश्याम थे। इस प्रकार विट्ठलनाथजीको कुल सात पुत्र थे—गिरधरजी, गोविन्दरायजी, बालकृष्णजी, गोकुलनाथजी, रघुनाथजी, यदुनाथजी और घनश्यामजी। अतः विट्ठलनाथजीने पुत्रोंको सातस्वरूप पधरा दिये—मथुरेशजी, विट्ठलनाथजी, द्वारकाधीशजी, गोकुलनाथजी, गोकुलचन्द्रमाजी, बालकृष्णजी तथा मदनमोहनजी। इनका सेवा-पूजा आज भी पूर्वमान्यता एवं परम्परानुसार होती चली आ रही है। वर्तमान गोस्वामी बालक, विट्ठलनाथजीके प्रथम पुत्र गिरधर तथा षष्ठ पुत्र यदुनाथके ही वंशज हैं। श्री गिरधरको आपने श्रीनाथजी तथा नवनीतप्रियाजीकी सेवाका भार सौंपा और उनकी सेवाका अधिकार सातोंको दिया।

संवत् १५८७ में वल्लभाचार्यके गोलोकप्रयाणके बाद उनके ज्येष्ठपुत्र गोपीनाथजी उत्तराधिकारी हुए, किन्तु अल्पकालके बाद उनका भी लीला-प्रवेश हो गया। गोपीनाथजीकी विधवाने अपने पुत्र पुरुषोत्तमका पक्ष लिया। श्रीनाथजीके अधिकारी कृष्णदासने भी उन्हींका साथ दिया। अतः श्रीविट्ठलसे मतभेदके फलस्वरूप श्रीनाथजीको ड्योढ़ी-दर्शन आपके लिए बन्द हो गये। दुःखी विट्ठलनाथजी पारसोली चले गये और वहींसे नाथद्वाराके मन्दिरके झरोखेकी ओर देखा करते थे। इस वियोग-कालमें उन्होंने 'विज्ञप्ति'की रचना की, जो काव्य एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे श्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। बादमें गिरधरजीकी शिकायतपर मथुराके हाकिमकी आज्ञासे कृष्णदास बन्दी बना लिये गये। यह सुन गोस्वामी विट्ठलने अन्न-जल त्याग दिया। कृष्णदासके मुक्त होनेपर ही उन्होंने भोजन ग्रहण किया। इस समादर, सहिष्णुता एवं क्षमाशीलताका कृष्णदासपर अधिक प्रभाव पड़ा। अतः उन्होंने वल्लभनन्दनसे क्षमा माँगी और उनके उत्तराधिकारको स्वीकार किया।

कर्तव्यनिष्ठा, दृढ़ता तथा उदारताने विपरीत धार्मिक परिस्थितियोंमें भी विट्ठलेशको अल्पकालमें ही सर्वमान्य बना दिया। फलतः उनका सम्प्रदाय सम्पूर्ण भारतमें फैल गया। तत्कालीन राजवंश भी इसके प्रभावसे अछूते न रह सके। परवाने भेजकर, मुगलसम्राट् अकबरने भी उनको सत्यनिष्ठ एवं ज्ञानी स्वीकार किया और उन्हें गोकुल तथा गोवर्धनकी भूमि भेंटस्वरूप दे दी। विट्ठलेशके उपदेशोंसे प्रभावित अकबरके सभासद (बीरबल, टोडरमल, मानसिंह, तानसेन आदि) तथा राय पुरुषोत्तम, रानी दुर्गावती, राजा रामचन्द्र आदि उनके शिष्य हो गये। उदार सामाजिक दृष्टिकोणके कारण अन्त्यज, पारसी, नाई, धोबी, लोहार, मुसलमान आदि अनेक जातियाँ उनकी शिष्य बनीं। देशाटनके मध्य वे छः बार गुजरात पधारे और वहाँ अनेक शिष्य बनाये। धर्मगुरु एवं कुशल राजनीतिज्ञके रूपमें वे सर्वत्र पूज्य थे। वैष्णव-धर्मको पुष्ट करने हेतु उन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना की :

अणुभाष्य (अन्तिम १॥ अध्याय), निबन्ध-प्रकाश (३ से ५ स्कन्ध), भक्तिहेतु, भक्तिहंस, विद्वन्मण्डनम्, न्यासादेशविवृति, गीताहेतु, श्रृंगाररसमंडनम्, गायत्रीकारिका, षोडश-ग्रन्थ-टीका, रससर्वस्व, व्रतचर्या, स्वप्नदर्शन, गुप्तरस, आर्या, विज्ञप्ति आदि ।

विट्ठलनाथजीने पिताके ८४ वैष्णव शिष्योंमेंसे चार (सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास और कृष्णदास) तथा अपने २५२ शिष्योंमेंसे चार (नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास) को लेकर 'अष्टछाप'की स्थापना की थी । उनकी सरस गेय रचनाओंसे एक ओर जहाँ हिन्दी-साहित्यको अभिवृद्धि हुई, वहीं दूसरी ओर सगुण भक्तिकी ऐसी धारा प्रवाहित हुई, जो आज भी जनमनको आनन्दित कर देती है । सेवा-पद्धतिको महत्त्व देते हुए उन्होंने उसे व्यावहारिक दृष्टिसे परिष्कृत किया । संगीत और कलाकी जो आभा उन्होंने उसे प्रदान की, उससे भारतीय जनमानस कृतकृत्य हो उठा ।

विट्ठलेश मानवताके पूर्ण समर्थक एवं वन्दनीय आचार्य थे । राजासे रङ्क तकके लिए उनकी समान कृपादृष्टि थी । दीनहीन वैष्णवोंके प्रति वे अधिक जागरूक थे । इसकी पुष्टि निम्नलिखित घटनाओंसे होती है ।

एक समय श्री विट्ठल श्रीनाथद्वारा (जतीपुरा) से गोकुल पधार रहे थे । उष्ण-कालकी कड़ी गर्मीके दिन थे । मार्गमें विट्ठलेशको एक वृक्षके नीचे अचेत पड़ी स्त्री दिखायी दी । सेवकोंसे उन्हें पता चला कि वह मथुराकी कुञ्जरी है । प्यासकी व्याकुलतासे उसका कण्ठ सूख गया है । सुनकर उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने उसे तत्काल झारीका जल पिलानेको कहा । सेवकोंने कहा : 'प्रभो ! झारी छू जायगी, जल कैसे पिलाऊँ ?' तब उन्होंने कहा : 'भैया, झारी तो और आ जायगी, किन्तु प्राण कहाँसे आयेंगे ? 'फेरि बाके प्रान कहाँ ते आवेंगे ? तातें वेगि जल प्यावो ।' झारीके महाप्रसादी जलका पानकर कुञ्जरी स्वस्थ हो गयी । तब उन्होंने सेवकोंको उपदेश दिया कि 'जीवमात्रपर दया करना वैष्णवका परमार्थ है ।'

सम्राट् अकबरके शिकारखानेके उच्चाधिकारी, रूपमुरारीजो बड़े कुशल शिकारी थे । हिन्दू होकर भी कर्मवशात् उनका संस्कार म्लेच्छ-जैसा बन गया था । विट्ठलेशकी कृपासे उनकी हिंसावृत्तिमें आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया और वे आचार-विचारसम्पन्न वैष्णव हो गये ।

समाज-तिरस्कृत अधम वेश्याको शिष्या बनाकर उन्होंने उसका मानवजन्म सार्थक कर दिया । 'वासण' जैसे शूद्रवर्णके हीनजातीय वैष्णव सेवकको अपनाकर श्री विट्ठलेशने उसे ब्राह्मण-जैसा विद्वान् बनाया ।

संवत् १६४७ ई० को माघ शुक्ल ७ को राजभोगके बाद गोवर्धनकी कन्दरामें श्री विट्ठलेश नित्यलीलामें लीन हो गये । ज्येष्ठ पुत्र गिरधरजीने, उन्हें ऐसा करनेसे रोका, किन्तु उनका उत्तरीय वस्त्र ही उनके हाथ लगा । उसी वस्त्रसे उत्तर-क्रिया करनेका आदेश देकर उन्होंने अपनी जीवनलीला समाप्त की । उस समय अष्टछापके श्रेष्ठकवि चतुर्भुजदास वहीं थे । भक्ति-विभोर हो उन्होंने करुणस्वरसे आचार्य श्री विट्ठलेशको श्रद्धांजलि अर्पित की :

श्री विट्ठलसे प्रभु भये
न ह्वे ह्वैं ।
पाछे सुने न देखे आगे,
वह संग फिर न बने हैं ।
को फिर नन्दरायको वैभव
ब्रजवासिन बिलसे हैं ।

अन्तिम चरणमें भक्तने शोक-पारावार समेट जो गीत गाया, उससे श्री विट्ठलेशका यश स्थायी हो गया :

श्री वल्लभसुत दरसन कारन
अब सब कोउ पछितैहैं ।
चतुर्भुजदास आस इतनी
जो सुमिरत जनमु सिरैहै ।

गोसाइं विट्ठलनाथका जीवन-चरित्र भगवान् श्रीकृष्णके लीलासौन्दर्यका दर्शनबोध है । भागवत एवं भक्तिके वे समकालीन श्रेष्ठ विशेषज्ञ थे । उनके पुष्टिमार्गीय-सिद्धान्त एवं तत्त्व मानवताके समस्त गुणोंसे ओत-प्रोत हैं । उनमें विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-कल्याणकी भावना सन्निहित है ।

●

निःस्वार्थ प्रेम

विकास ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है । प्रेम ही विकास और स्वार्थभाव ही संकोच है । इसलिए प्रेम ही जीवनका मूल मन्त्र है, प्रेम करनेवाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है । इसलिए प्रेम प्रेम ही के लिए करो, क्योंकि एक मात्र प्रेम ही जीवनका ठीक वैसा ही आधार है, जैसा कि जीनेके लिए श्वास लेना । निःस्वार्थ प्रेम निःस्वार्थ कार्य आदिका यही रहस्य है ।

संसार चाहता है चरित्र । संसारको आज ऐसे लोगोंकी आवश्यकता है, जिनके हृदयमें निःस्वार्थ प्रेम प्रज्ज्वलित हो रहा है । उस प्रेमसे प्रत्येक शब्दका वज्रवत् प्रभाव पड़ेगी । जागो, जागो ऐ महान् आत्माओं, जागो । संसार दुःखाग्निसे जला जा रहा है । क्या तुम सोये रह सकते हो ?

—स्वामी विवेकानन्द

पण्डिताग्रणी राजाराम शास्त्री कार्लेकर

श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग

★

पूजनीय अण्णा (गङ्गाधर शास्त्री तैलङ्ग) ने दो संस्कृत चम्पूकाव्योंका प्रणयन किया है : 'श्रीयुत-राजाराम-शास्त्रिणां जीवन वृत्तान्तः' और 'बालशास्त्रिणां जीवनवृत्तम् ।' ये कृतियाँ तत्कालीन संस्कृत मासिक-पत्र 'सूक्तिसुधा' एवं 'काशी-विद्यासुधा-निधि' (पण्डित-पत्र) में क्रमशः प्रकाशित भी हैं । इनमें आपके गुरुजनोंकी पावन जीवन-यात्राएँ वर्णित हैं ।

आपकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है । आपने १६ वर्षकी आयुतक वेदमूर्ति बालकृष्ण भट नेनेजीसे कृष्णयजुर्वेदीय आपस्तम्बसूत्रका सषडङ्ग अध्ययन एवं अपने परमादरणीय तातपाद नरसिंहशास्त्री मानवल्लीसे, जिन्हें घरपर अप्पा कहते थे, अक्षराभ्यासादिपूर्वक काव्य-साहित्यका अवगाहन किया । तदुपरान्त पूज्यपाद राजारामशास्त्री कार्लेकरसे धर्म-शास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदिका तथा अनन्तर उन्हींके प्रधान शिष्य आराध्यचरण 'बाल-सरस्वती' (बालशास्त्री रानडे) से साङ्ख्य-मीमांसादि दर्शनोंका आलोडन किया । उक्त गुरु-परम्परामें आपकी प्रथम चम्पू-रचनाके आधारपर प्रस्तुत निबन्धमें आपके परमगुरु माननीय राजारामशास्त्रीकी पावन कीर्तिगाथा अङ्कित है, जो इस प्रकार है—

भगवान् विश्वनाथकी राजधानीमें गोविन्दशर्मा नामक श्रोत्रिय ब्राह्मण रहते थे । उन्होंने समस्त वेदशास्त्राध्ययन कर न केवल कीर्ति ही सम्पादित की अपितु सदा-सर्वदा तपश्चर्या-रत रहकर कायिक, वाचिक एवं मानसिक शुद्धि भी अर्जित की । आपसे तीन नीतिसम्पन्न पुत्ररत्न उत्पन्न हुए ।

इनमें तृतीय चिरंजीव राजारामशास्त्री आयुमें कनिष्ठ होनेपर भी अपने गुणोंसे वरिष्ठ एवं विद्वत्-समाजमें सर्वत्र लब्धप्रतिष्ठ थे । अपने पुत्रमें दिव्यगुणोंका विकास देखनेके लिए इच्छुक पिता गोविन्दशर्माको बिना आपका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किये परलोक जाना पड़ा । इस वज्रपातके उपरात भी दस वर्षकी आयुसे ही आपने पण्डिताग्रणी हरिशास्त्री रानडेजीसे सम्पूर्ण काव्यग्रन्थ, कौमुदी आदि अल्प समयमें ही सीखकर कण्ठाग्र कर लिया । उस समय स्थानीय त्रिलोचनघाटपर निवास करनेवाले हरिशास्त्रीजीका तपोवैभव प्राचीन महर्षियोंका स्मरण दिलाता था ।

तदनन्तर आपने षड्विध आस्तिक-दर्शन एवं षड्विध नास्तिक-दर्शनोंके गहन चिन्तक विद्वद्वरेण्य दामोदर शास्त्रीजीसे अध्ययन किया, जिनकी शरच्चन्द्रधवला कीर्ति पृथ्वीकी परिक्रमा करती थी। अपनी वृद्धावस्थाके कारण उन्होंने आपको अग्रिम अध्ययन करनेके लिए काशीनाथ शास्त्रीजीको सौंप दिया। शास्त्र-विपिनके केसरीके समान श्रीकाशीनाथ शास्त्रीजीसे प्रतिवादी दिग्गज भी थर्रा उठते थे। उनके द्वारा आपने व्याकरणादि शास्त्रोंको इस तरह प्राप्त किया, मानो वे आपको पहलेसे ही अभ्यस्त हों।

इस प्रकार द्वादश दर्शनी, सम्पूर्णकाव्य शास्त्र, व्याकरणादि शास्त्र प्रभृति समस्त विद्याओंका अर्जनकर आप विद्वज्जगत्में विजय-यात्राके लिए निकल पड़े। प्रथम आप चित्रकूट-नरेश विनायक रावकी विद्वत् सभामें पहुँचे, जो वर्षमें एकवार आयोजित होती थी। उक्त सभाको नाना देशागत सैकड़ों विद्वान् अलंकृत करते थे। उस सभामें विविध शास्त्रोंसे सम्बद्ध जटिल शङ्काओंके ऐसे समाधान आपने खोज निकाले, जो अन्य विद्वानोंके लिए असाध्य थे।

प्रागाश्रीयत रामेण चित्रकूटगिरिस्थितिः।
खण्डिता वादिनां तेन चित्रकूटगिरि स्थितिः॥ १॥

प्राचीनकालमें रामचन्द्रजीने चित्रकूट पर्वतपर अपनी स्थिति निश्चित की थी, किन्तु मध्यमलोकके उस बृहस्पतिने प्रतिवादियोंकी विचित्र एवं गम्भीर वाणीकी प्रतिष्ठा समाप्त कर दी।

तदुपरान्त आप काशी आये। उस समय आजमगढ़के न्यायाधीश सर जॉन म्योर, जो प्राच्यविद्याओंके प्रकाण्ड पण्डित थे, विद्वत्-कल्पविद्यार्थियोंकी परीक्षा लेनेके लिए काशी आये हुए थे। वहां आपकी भी परीक्षा उन्होंने ली। फलतः वे आपकी सर्वशास्त्रविषयक उपस्थिति, व्युत्पत्ति एवं प्रतिभासे अत्यन्त चमत्कृत हुए। वे यह सोचकर आपको सम्मान-पूर्वक आजमगढ़ ले गये कि 'ऐसे पण्डितरत्नका सहवास सौभाग्यका विषय होता है। साथ ही न्यायालयके निर्णयमें उन जैसे पण्डितरत्नकी धर्मशास्त्रादिविषयक बहुमूल्य सम्मति एवं स्वरचित ललित रचनाओंका सम्यक् परिष्कार अतिसुकर होगा।' उनका यह सोचना कालान्तरमें सफल सिद्ध हुआ। राजाराम शास्त्रीजीने वहाँ पाच वर्षतक रहकर अपनी कीर्तिपताका चारों ओर फहरा दी।

वहाँसे आप गालवपुर आये एवं विद्वानोंको वाद-विमुख कर वहाँकी राजसभामें सम्मानभाजन बन बैठे।

सततं मानसं मोदं वचोभिर्योऽतनोन्नृणाम्।
सततं मानसंमोदं कुतो वा नाऽप्नुयाद् बुधः॥ २॥

इस प्रकार शास्त्रार्थ द्वारा अखण्ड विद्वन्मण्डलको पराजित कर १९१२ विक्रम वर्षमें आप अपनी नगरी काशीपुरी लौट आये।

आपके गुरुजन काशीनाथ शास्त्रीजीने एक प्रबन्धका प्रणयन किया था। यद्यपि सभी शास्त्रज्ञ उसे मान्यता देते थे, तथापि उसपर सम्भाव्य आक्षेप एवं उसका समाधान स्वयं

प्रस्तुत कर आपने ईर्ष्यालुजनोंका वाक्-स्तम्भन कर दिया। फलस्वरूप गुरुकी अनुकम्पासे आपका दिया हुआ 'विधवोद्वाहशङ्कासमाधि' यह नाम उस ग्रन्थरत्नको प्राप्त हुआ। इस घटनाके द्वितीय वर्ष ही आपको काशिक राजकीय संस्कृत-पाठशालाके भूतपूर्व अध्यक्ष बैलनटाइन साहबने सांख्यशास्त्राध्यापक पदपर नियुक्त किया।

असंख्येष्वपि संख्यावत्स्वाद्यसंख्याश्रयो ह्यसौ।
सांख्याध्यापनकार्येऽतो नियुक्ता इति युज्यते ॥ ३ ॥

असंख्य होनेपर भी संख्यावानोंमें आद्यसंख्याका आश्रय लेनेवाले अर्थात् अगणित पण्डितोंमें अग्रणी आपकी सांख्यदर्शनके अध्यापनकार्यमें नियुक्ति युक्तियुक्त ही थी।

पश्चात् १९२० विक्रम संवत्में राजकीय संस्कृत-पाठशालाके अध्यक्ष ग्रिफिथ महोदयने आपको वहीं धर्माध्यक्ष पदपर नियुक्त किया।

आपकी अध्यापनचातुरी एवं धर्मशास्त्रविषयिणी निर्णयक्षमता ऐसी थी, जिसके फलस्वरूप आपके विद्यार्थी भी प्रतिवादियोंसे लिए भयंकर हो उठते थे एवं उन्हें देखकर गद्‌गद हो साधु-साधु कहते थे।

अर्जित्वा प्रथमे वयस्यनुपमां विद्यामवद्यापहां
सम्मानं धनमाप्य मध्यमवयस्यध्याप्य विद्यार्थिनः।
कैलासोदरसोदरेण यशसा सम्भूष्य भूमिं ततो
वैराग्यात् त्रिदशापगातटमठे योगं श्रयन् सोऽवसत् ॥४॥

इस प्रकार आपने प्रथम-अवस्थामें अतुलनीय एवं अनवद्य विद्याओंका अध्ययन कर मध्यम-अवस्थामें विद्यार्थियोंको विद्यादान करते हुए धन एवं सम्मान प्राप्त किया। फलस्वरूप-कैलासके समान उज्ज्वल आपकी कीर्ति समस्त भूमिको अलङ्कृत करने लगी। अनन्तर वैराग्यके कारण योगमार्गका आश्रय लेकर आप गङ्गातटवर्ती एक मठमें रहने लगे।

यद्यपि आप निरिच्छ एवं मोक्षमार्गी थे, तथापि निर्धन छात्रोंके प्रति परम कारुणिकता आपको धनार्जनके लिए विवश करती थी।

जीवनके अन्तिम पांच छः वर्ष किसी प्रकार व्यतीतकर आपने सं० १९३२में श्रावण शुक्ल द्वादशीको संन्यास ले लिया। उस समयसे आपको समस्त वैषयिक प्रपञ्च मिथ्या प्रतीत होने लगे। आपकी एकाग्र चित्तवृत्ति तबसे ओङ्कारमय प्रणव-ब्रह्मका ही साक्षात्कार करने लगी। फलस्वरूप आपने देहपातपर्यन्त आहार तकका परित्याग कर दिया था। आपका निर्वाण उसी वर्ष भाद्रपद कृष्ण तृतीया, गुरुवारको हुआ। इस प्रकार जीवनलीला समाप्त कर आपने उस परम पदको प्राप्त किया, जिसके आगे अन्य भौतिक पद व्यर्थ एवं क्षणभङ्गुर हैं।

●

नदीकी मोह-माया

श्री स्व० चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

★

[राजाजी द्वारा तमिळमें लिखित यह रचना साप्ताहिक 'कल्कि'के ४ दिसम्बर १९५५ अंकमें प्रकाशित हुई थी। हिन्दीमें इसका अनुवाद श्री आर० वीळीनाथन्ने किया है।]

'हाय री दैया ! मैं तो मरी। मेरा अन्त निकट आ गया।'

दुःख-विह्वल होकर एक नदी ऐसे रो पड़ी, जैसे कोई बुढ़िया मृत्युको सामने देखकर रो पड़ती है। बड़ी नदी थी वह।

मैं कितने सुखसे पली, पहाड़ परसे उतरते हुए कलकल करती हुई एक उछल-कूद मचाती हुई और सैकड़ों मीलोंका रास्ता तय करती हुई यहाँतक आयी। पर यह क्या ? अन्त समय निकट आ गया है। अब मैं क्या करूँ ?'

नदीके नेत्रोंसे आँसू ऐसे फूट पड़े कि थमनेका नाम नहीं लिया। हाँ, थमे कैसे जब कि आँसू बहानेके लिए उसके पास बहुत सारा पानी था। समुद्रके किनारे जाकर वह यों रो रही थी। वह सोचने लगी : 'समुद्रमें मेरा विलय हो जाय तो मेरे जीवनका अन्त ही अन्त है।'

इस क्षणमें जो नदी है, वह अगले क्षणमें नहीं है। हम नदीमें गोता लगाते हैं। हम पानीमें जब उतरे, तब जो जल था, वह पानीमें उतरनेके बाद नहीं रहता। तबतक वह बढ़ जाता है और उसकी जगह ताजा पानी आ जाता है। यही क्यों, वह भी तो पलक झपकते बह जाता है। फिर नये सिरेसे दूसरा ही पानी आता है। यही क्रम बराबर चलता रहता है। इस क्षणका पानी दूसरे क्षणमें नहीं रहता। फिर भी हम उसे कोई चिरस्थायी वस्तु-सी मानते हैं और उसका नामकरण भी कर देते हैं।

ऊपर आकाशसे गिरनेवाली वर्षाकी बूंदोंसे नदीका पानी जरा भी भिन्न नहीं है। दोनों समान धर्मी हैं, लेकिन वर्षाकी बूँदोंका हम कोई नामकरण नहीं करते। वर्षाकी बूँदोंका गिरना और विलीन होना हम भलीभाँति देखते हैं। नदीकी भी वही दशा है। इस क्षणमें यहाँ-पर पानीकी जो बूँदें थीं वे अगले क्षण यहाँ नहीं हैं, लेकिन नदी-तट, रेत और वृक्ष देखकर हम इस भ्रममें पड़ते हैं कि नदी कोई चिरस्थायी वस्तु है; समुद्रके किनारे आनेपर नदी भी

हमारी ही जैसी विचारधारामें बही और दुःखके सागरमें डूब गयी ! 'हाय ! मैं मरी और मेरा जीवन समाप्त हो गया ।'

हमारे जीवन और शरीरकी भी यही हालत है । नदियोंकी ही भाँति कल जो कुछ था, वह आज नहीं है और आज जो कुछ था या है, वह कल नहीं होगा । फिर भी हम अपने इस पार्थिव-शरीरको चिरस्थायी मानकर चलते हैं । यह तो हुई बड़ी बात । आइये, अब रोती-बिलखती नदीका हाल देखें ।

नदी समुद्रमें विलीन हो गयी । उसके अपने प्राण चले गये और जीवन समाप्त हो गया । समुद्र-जलसे नदीका जल मिलकर एक हो गया । पानीकी बूँदें रत्तीभर भी विनष्ट नहीं हुईं । केवल माया छूटी और मोह टूटा । अबतक नदी समझ रही थी कि मेरा अपना अलग अस्तित्व है । यह तो एक मोह व्यामोह और अहं एवं अहंतामात्र है ।

बस, बहते पानीकी हर बूंद समुद्रमें गिरकर एकाकार हो जाती है, न कि मरती है । हाँ, नदीका स्वरूप चला गया और पानी पानीसे मिल गया । पहले वह जहाँसे आया था, वहीं फिरसे लौट गया ।

भगवान् भानु-भास्कर अपने सहस्र-सहस्र प्रयत्न कर फिरसे बढ़ायेंगे और गाढालिंगन कर पानीकी बूँदोंको बाष्पवाहनपर ऊपर उठा ले जायेंगे । घटाओंकी कोखमें पलनेवाली वर्षाकी बूंदोंको यथासमय नीचे पृथ्वीपर भेजनेका अनुग्रह भी करेंगे । इसलिए हम नदीको यह कहकर सांत्वना दें कि 'अरी ओ नदियो ! मत रोओ' और स्वयं भी ज्ञान प्राप्त करें ।

मृत्युके देवता यमराजको देखकर डरने या दुःखी होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । भगवान् तो समूचे पिण्ड-ब्रह्माण्डमें फैले हुए हैं, दयानिधान हैं । उनसे जा मिलनेमें दहशत क्यों खायें और दुःख ही क्यों करें ?

•

भक्ति

सत्यकी आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेलीपर लेकर चलनेका सौदा' है; अथवा वह हरिका मार्ग है, जिसमें कायरताकी गुंजायश नहीं है, जिसमें हार नामकी कोई चीज है ही नहीं । वह तो 'मरकर जीनेका मन्त्र' है ।

—महात्मा गांधी

दिवंगत राजाजी

देशके वयोवृद्ध नेता, त्याग-तप और तेजस्विताके मूर्तिमान् विग्रह तथा अद्भुत राजनीतिज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ९० वर्षकी आयुमें दिवंगत हो गये। इस दु:खद वृत्तान्तसे देशके सभी वर्गके लोग मर्माहत हो उठे हैं। वे महामनीषी, सुदूरदर्शी और प्रखर प्रतिभाके धनी थे। किसी वादविशेषसे आबद्ध न रहकर स्वतन्त्र चिन्तनशील विचारक थे और अपने सुविचारित मतको बड़ी निर्भीकतासे व्यक्त किया करते थे। जिन दिनों पाकिस्तानकी कल्पना असम्भव एवं असंगत प्रतीत होती थी, उन्हीं दिनों उनकी अनागतदर्शिनी दृष्टिमें उसकी संभाव्यता प्रकट हो गयी थी और वे उसका समर्थन करने लगे थे। अन्तमें वही बात हुई जो वे कहते थे। उनके आचार-विचारोंपर भारतीय संस्कृतिका गहरा प्रभाव था। उन्होंने उपनिषद्, महाभारत एवं रामायणका अनुशीलन करके अपने अन्त:करणका संस्कार किया था। वे स्वतन्त्रता-सेनानियोंके अग्रणी थे। उन्होंने अपना सारा जीवन राष्ट्रकी सेवाके लिए समर्पित कर रखा था। उनकी मजी हुई लेखनीसे जो विचारधारा प्रकट होती थी, उसमें अवगाहन करके प्रबुद्ध मस्तिष्कवाले लोगोंको भी सुख मिलता था। वे तमिलनाडुके सूर्य समझे जाते थे। उनके अस्त होनेसे अवसादका अन्धकार-सा छा गया है। अपूरणीय क्षतिकी इस विषाद-वेलामें हम उन राष्ट्रपुरुषके चरणोंमें अपनी सभक्ति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

स्वर्गीय भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'

हिन्दी-साहित्य-संसारके सुप्रसिद्ध लेखक, कवि और पत्रकार डाक्टर भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव' हमारे बीचसे उठ गये ! यह हिन्दी-जगत्के लिए अत्यन्त दुखद घटना है। काशी हिन्दूविश्वविद्यालयसे हिन्दी तथा अंग्रेजीमें एम० ए० कर माधवजी साहित्य-साधनामें संलग्न हुए थे। सन् १९३१ से ४२ तक आपने अनेक पत्र-पत्रिकाओंका सम्पादन किया, जिनमें 'सनातनधर्म, चाँद और भविष्य'के नाम उल्लेखनीय हैं। 'कल्याण' और 'कल्याण-कल्पतरु'में भी आपने अनेक वर्षों तक सहकारी संपादकके रूपमें कार्य किया है। 'रामभक्ति-साहित्यमें मधुरोपासना' आपकी सुविख्यात शोध-रचना है। बिहारके शिक्षाविभागमें भी माधवजीने बहुमूल्य सेवाएँ की हैं। आप बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्के निदेशक नियुक्त हुए थे। तत्पश्चात् मगध-विश्वविद्यालयमें हिन्दीके वरिष्ठ अध्यापकके रूपमें आपकी नियुक्ति हुई थी। कुछ ही दिन पूर्व आपने मगध विश्वविद्यालयके प्राचार्य-पदसे अवकाश ग्रहण किया था। माधवजी हमारे आदरणीय मित्र थे और कल्याणमें बहुत वर्षोंतक उनके साथ कार्य करनेका सुअवसर हमें प्राप्त हुआ था। अनेक वर्षोंतक 'श्रीकृष्ण-सन्देश'के सम्मानित सम्पादक मण्डलमें आपका एक विशिष्ट स्थान था। उनका काकपक्षाकार केशसे समलंकृत मस्तक, उन्नत ललाट और मन्द हास्यकी छटासे सुशोभित प्रसन्न मुखारविन्द अब भी हमारी आँखोंके समक्ष मूर्त हो उठता है। उनके निधनसे हिन्दी-साहित्यकी भारी क्षति हुई है और हम लोगोंने एक सहृदय मित्रको खो दिया। 'श्रीकृष्ण-सन्देश'-परिवार उनकी दिवंगत आत्माके लिए शान्तिकी कामना करता हुआ, उनके प्रति अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।—सम्पादक

With complements from

THE OUDH SUGAR MILLS LTD.

HARGAON

Dist.

SITAPUR, U. P.

MANUFACTURERS OF PURE CRYSTAL
CANE SUGAR AND QUALITY SPIRITS

BERAR OIL INDUSTRIES

VANASDAPETH

AKOLA (MAHARASHTRA)

MANUFACTURERS OF VANSADA BRAND VANASPATI
AND CHANDANI BRAND SOAP

HARGAON OIL PRODUCTS

SITAPUR, U. P.

MANUFATURERS OF GROUNDNUT OIL,
SOLVENT EXTRACTED OIL & DE-OILED CAKE

निगमामृत

(पुरुष-सूक्त)

(१५)

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥

देव - समूहोंने मिलकर जब सृष्टि - यज्ञको था साधा,
और स्वयं संकल्प - रज्जुसे पुरुषरूप पशुको बाँधा।
सात समुद्र हुए थे उस क्षण मञ्जुल सप्त मेखलारूप,
छन्दोंने इक्कीस वहाँपर ग्रहण किया समिधाका रूप ॥

(१६)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाक महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

देवोंने पूर्वोक्त यज्ञसे यज्ञपुरुषका किया यजन,
सर्वप्रथम उस सृष्टि-यज्ञसे सब धर्मोंका हुआ जनन।
उन धर्मोंसे महिमान्वित हो मिला सुरोंको स्वर्गावास,
जहाँ पुरातन साध्य - देव - गण करते हैं सानन्द निवास ॥

सूक्ति-सुधा

तमिममहमजं शरीरभाजां
हृदि हृदि धिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं
समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥

अपने ही रचित अखिल देहधारियोंके
हृदय-हृदयमें निवास करते हैं जो,
विद्यमान सतत प्रकाशमान एकरस
अमृत अजन्मा हैं—न जन्म धरते हैं जो।
जैसे रवि एक दृष्टि-दृष्टिमें अनेक वैसे
एक ही अनेकता प्रकट करते हैं जो,
उन्हीं इन कृष्णको मैं लेता हूँ शरण आज
भेद-भाव मोह मेरे सारे हरते हैं जो॥

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, दुण्ढिराज, वाराणसी—१ में मुद्रित एवं प्रकाशित